

ISSN 2350 – 1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 11, अंक : 43, जुलाई-सितम्बर 2024

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

रमेश
कुंतल
मेघ

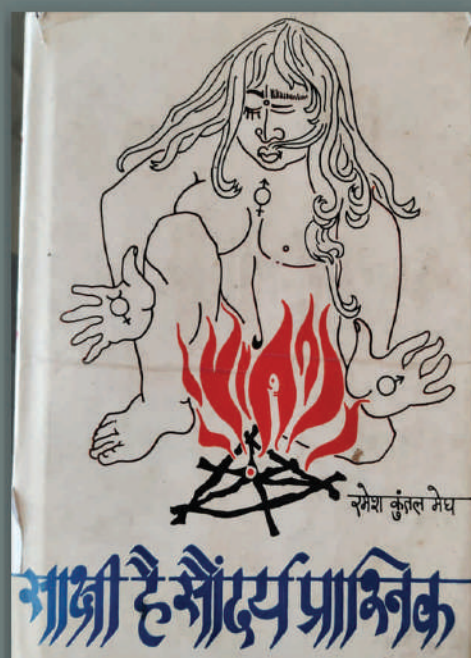
विशेष अंक



विद्यार्थी मंच

मूल्य: 100 रुपये

उस पार से.....



इतिहास-संबंधी विचार के अभाव में आम लोग अनुभव तथा प्रत्यक्षीकरण करने के बावजूद भ्रमित और अस्पष्ट होते हैं। यह भी व्यक्ति का एक आंतरिक अंतर्विरोध है लेकिन अगर एक शब्द-विचार उन्हें सूर्य की तरह स्पष्टता तथा दिशा दे देता है, लौ की तरह उन्हें अग्निदीक्षा से कुंदन बना देता है तब यह शब्द-विचार कर्म में, किम्वा आंदोलन में बदल जाता है। यह उन लोगों का हो जाता है और वे लोग इस विचार द्वारा रूपांतरित हो जाते हैं, क्योंकि विचार एक 'भौतिक शक्ति' बन जाता है। इस तरह 'शब्द' अर्थ की अपेक्षा अभ्यास से, स्वानुभव से, नवोदित चेतना से प्रमाणित होने पर शब्दार्थक के बजाय शब्दकर्मी हो जाते हैं। शब्द और अर्थ और कर्म की इस विचित्र आधुनिक चुनौती को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि इससे हमारी मूल प्रकृति तथा संस्कृति में ही क्रांति की धारा-प्रवाह विवर्तित हो चलेगी।

-1980

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष : 11, अंक : 43, जुलाई-सितम्बर 2024

रमेश कुंतल मेघ
विशेष अंक

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

डॉ. राणा प्रताप : संपादक - कथान्तर्
 प्रो. शशि मुदीराज : प्राक्तन अध्यक्ष - हैदराबाद विश्वविद्यालय
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, बर्मिंघम, यू.के.
 प्रो. डॉ. रंजना अरगडे : प्राक्तन अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
 डॉ. राजवंती मान : सीनियर अकैडमिक फैलो ऑफ़ इंडियन काउंसिल ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च, भारत सरकार।
 शशिभूषण द्विवेदी : ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के RHODES Scholar's
 डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
 डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल : असिस्टेंट प्रो., हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज, प. बंगाल
 डॉ. विनय कुमार मिश्र : प्राध्यापक, बंगवासी कॉलेज
 डॉ. विजय कु. साव (निशांत) : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
 उत्सव सिन्हा : वर्चुअल प्रोडक्शन स्पेशियलिस्ट, मुंबई

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनोद यादव, विवेक लाल, विनीता लाल, सरिता खोवाला, परमजीत पंडित, नगीना लाल दास एवं रुद्रकान्त झा

संपर्क एवं प्रसार :

पदमाकर व्यास : 9433196407
 चौदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
 लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।
 पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : प्राक्तन प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर - बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. सुनील कुमार (सुमन) : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

मुक्तांचल : A/C- 50200014076551, HDFC Bank BURRABAZAR, KOLKATA-700007, IFSC CODE - HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, ग्राउण्ड फ्लोर, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल

संपर्क करें :

डॉ. मीरा सिन्हा (संपादक) : 9831497320
 सुशील कुमार पांडेय : 8820406080

कार्यालय प्रभारी :

बलराम साव : 8910783904

ई-मेल : muktanchalpatrika@gmail.com/
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन- 5000 रुपये

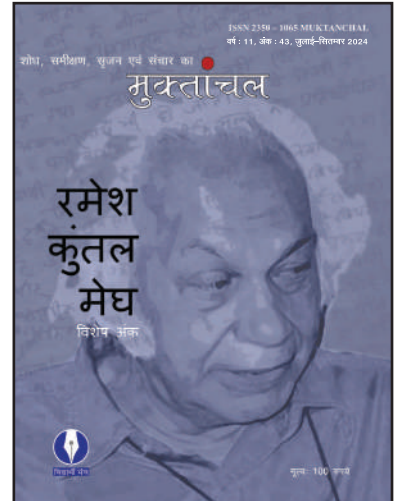
संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-5500 रुपये
 डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शोध	06	<u>संस्तुति</u> <u>परिचय</u>	
	07	डॉ. सीताराम आठिया <u>स्मृत्यालोचन</u>	साहित्यकार प्रो. डॉ. रमेश कुंतल मेघ
समीक्षण	11	पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	रमेश कुंतल मेघ : कलाकार और बालपन का मोहक, मिथकीय रूपालेख!
	17	डॉ. कृष्ण कुमार	प्रो. रमेश कुंतल मेघ और मैं
	20	अनूप सेठी	मेरे हिस्से के डॉ. मेघ
	24	हरेन्द्र सिंह भदौरिया <u>मूल्यांकन</u>	रमेश कुंतल मेघ से एक मुलाकात
	25	डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता	डॉ. रमेश कुंतल मेघ और उनका आलोचना साहित्य
सृजन	32	शशिभूषण द्विवेदी	डॉ. रमेश कुंतल मेघ : वे स्वयं मिथक भी हैं, बहाना भी और एक रास्ता भी...
	36	शशि मुदीराज	रमेश कुंतल मेघ : कविता के आरपार देखती दृष्टि
	44	सेवाराम त्रिपाठी	रमेश कुंतल मेघ और मनखंजन किनके : कुछ नोट्स
	49	रंजना अरगडे	मिथकों की कालोत्तीर्ष गोष्ठी - विश्वमिथकसरित्सागर
संचार	56	राजवंती मान	अंतर्ज्ञानानुशासनीय श्रीयंत्र के निर्मेघ पैरोकार : मेघ
	62	डॉ. के वनजा <u>ब क़लम खुद</u>	कामायनी सौंदर्य से साक्षात्कार उर्फ प्रकृति दर्शन
	67	रमेश कुंतल मेघ	अकुंठ बयान

अवस्थिति

शोध	चिंतन	
	70 रमेश कुंतल मेघ	क्या भवभूति की नाट्य-चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से भी अनुप्रेरित है?
समीक्षण	81 रमेश कुंतल मेघ	स्वीकार करनी होगी तुलसी की समसामयिकता भी
	88 रमेश कुंतल मेघ	आज का लातिन अमरीका
	100 रमेश कुंतल मेघ	एक एंथ्रोपोलॉजिकीय कहानी का चक्रचिह्न : रांगेय राघव जी की 'गदल'
	102 रमेश कुंतल मेघ	अनुवीक्षा (रिव्यू) से अनुचिंतन के उत्तर पाठ
	105 रमेश कुंतल मेघ	मध्यकाल : रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल
अनुचिंतन	111 रमेश कुंतल मेघ	कलात्मक 'प्रचार' और 'सपाटबयानी' पर नोट्स
	अनुचिंतन	
सृजन	113 सुमनिका सेठी	मूर्ति कला पर कुछ नोट्स (संदर्भ : रमेश कुंतल मेघ)
	117 ममता कुमारी	तुलसी आधुनिक वातायन से : विद्वता से मेघ
	120 राणा प्रताप	लातिन अमरीका और रमेश कुंतल मेघ
संज्ञा	परिशिष्ट	
	123 समीक्षार्थ पुस्तकें प्राप्त हुई	
	124 लेख आमंत्रित	
संचार		



आवरण : उत्सव सिन्हा

रमेश कुंतल मेघ जैसे असाधारण प्रतिभा के धनी लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व को सहज साधारण ढंग से सामने लाने की कोशिश इस अंक का अभिप्रेत है। आजादी के पच्चीस वर्षों के अनन्तर सत्तर का जमाना साठोत्तर साहित्य दृष्टि की केंचुल उतार रहा था सत्तर के उत्तर एक खोलता हुआ समय धूल और गुबार से भरा था, हम समय के आईने पर छाई धुंध को साफ करने में लगे थे। ‘व्यक्तिवाद’ और ‘आत्मनिर्वासन’ ‘अजनबीपन’ और ‘निर्थकता बोध’ के झमेले से निकलना बहुत लाजिम हो गया था। उन्हीं दिनों मेघ जी की किताब ‘आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण’ हाथ लगी जिसमें देश और दुनिया के समाज विकास पर एक नई रेशनी डाली थी जो सर्वथा वैज्ञानिक और तर्क संगत थी। उन्होंने मानवीकृत आधुनिकता बोध की बात की है जो एक द्वंद्वात्मक इकाई पूरा करता है, उन्होंने इस पुस्तक (आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण) की प्रस्तावना में लिखा है— ‘आत्मसंघर्ष-विहीन आत्मरति से फूहड़ता का उदय होता है, किन्तु आत्मसंघर्ष के द्वारा उदात्तता की अन्विति होती है। आत्म-परायेपन से आत्मसंघर्ष की ओर फिर आत्म-स्वाग्रह या आत्म-आधिपत्य की सिद्धि में स्वतंत्रता मिलती है।’

इस तरह उनकी लेखकीय इबारतों के जरिये हम युवा वर्ग उनसे प्रभावित हुए, यह उनसे घनिष्ठ होने का पहला चरण था। दूसरे चरण पर आपातकाल में लेखक समुदाय अभिव्यक्ति की आजादी पर हमले से परेशान एकजुट हो रहे थे। जमाना बड़ा शख्त था हम कलकत्ता के लेखकों ने 1976 में ‘अभिव्यंजना’ लघु-पत्रिका की शुरुआत की और उसी प्लेटफॉर्म से ‘जन-साहित्य सम्मेलन’ के लिए तैयारी में लग गए। मेघ जी ने भी अपना आलेख भेजा जिसे मैंने इस विशेष अंक में शामिल किया है। आपातकाल की ‘अभिव्यंजना’ सत्तर के बाद ‘मुक्तांचल’ के नाम से भी प्रकाशित हुई, फिर बन्द हो गई। अस्सी के बाद दशक में हिन्दी में जनवादी लेखक संघ के संगठन की पहल की गई। हम कलकत्ता के लेखकों ने भी हिस्सेदारी की। वहीं मेघ जी से मुलाकात हुई। मैं और मेरे ‘पार्टनर’ (प्रयात आनन्द सिन्हा) साथ थे। मेघ और आनन्द में गहरी पटी, कई तरह की समानताएँ दोनों में थी। एक ही तरह का डौल, कानपुर वाले, पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विज्ञान की पढ़ाई से निर्गमन फिर एक ने साहित्य को अपना लिया। दूसरे ने मानवाधिकार के पक्ष में वकालत को और उन सबसे भी ज्यादा जबरदस्त दर्शन, राजनीति एवं मानवाधिकार पर इतनी-इतनी बातें की बस! इस तीसरे चरण में मेघ जी परिवार जैसे हो गए... और फिर, एक लम्बे अंतराल के बाद ‘मुक्तांचल’ का प्रकाशन 2014 से शुरू हो गया और मेघ जी लेखकीय स्तर पर पत्रिका से जुड़ गए और कई लेखकों को जोड़ा भी। हाथों से हर्फ-हर्फ लिखकर डाक से भेजवा देते। पत्रिका की सह-संपादक मेरी छात्रा अर्चना पाण्डेय से मुखातिब रहते, फोन पर उसे रचना कर्म समझाते और दृष्टांत के बतौर अपना लेखन भेज भी देते, ‘मुक्तांचल’ के लिए। तो ऐसा था उनका व्यक्तित्व निराभिमानी और निस्पृह!

‘रमेश कुंतल मेघ’ का वृहद साहित्य-संसार, अध्येता वर्ग में संश्लिष्टता एवं क्लिष्टता की अवधारणा से आच्छादन है। वस्तुतः मेघ साहित्य ठहरकर पढ़ने की अपेक्षा रखता है उसे सरसरी निगाह से नहीं परखा जा सकता। आज की आबोहवा में गंभीर अध्ययन के प्रति विरक्ति है, माप-तौल कर पढ़ना-पढ़ाना और शीघ्र से शीघ्र उसका लाभ उठाकर अलग हो जाना इस समय की प्रवृत्ति है। फिर भी ‘मुक्तांचल’ के इस ‘मेघ विशेष अंक’ में पूरी कोशिश की गई है कि डॉ. मेघ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सहज और सरल ढंग से अध्येता, विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों तक पहुँचाया जा सके जिससे उनमें मेघ जी के अतुल साहित्य जगत को जानने, समझने की जिज्ञासा जागृत हो सके।


संपादक

साहित्यकार प्रो. डॉ. रमेश कुंतल मेघ

- डॉ. सीताराम आठिया

रमेश कुंतल मेघ हिंदी साहित्य के वरिष्ठ साहित्यकार व समालोचक हैं। आपने प्रगतिवादी आलोचना का क्षेत्र विस्तार किया। मेघ ने आलोचना में अंतरानुशासन को विशेष महत्व दिया है। आधुनिकता, सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र उनके अध्ययन के प्रमुख क्षेत्र हैं। आपने अपने आलोचनात्मक कर्म का प्रारंभ जयशंकर प्रसाद और उनकी कामायनी से किया एवं मध्यकालीन साहित्य के सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण में विशेष योगदान दिया। सौंदर्य दृष्टि और सामाजिक भूमिका उनकी आलोचना के बीज शब्द हैं, जिनके माध्यम से वह रचना का समग्र आकलन करते हैं।

रमेश कुंतल मेघ का मूल नाम रमेश प्रसाद मिश्र था। वे हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित आलोचक और चिंतक थे। उनका जन्म 1 जून 1931 को उत्तर प्रदेश के कानपुर में हुआ था। रमेश कुंतल मेघ ने अमेरिका के आरकंसास विश्वविद्यालय में फुलब्राइट प्रोफेसर और अमृतसर स्थित गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के भाषा संकायाध्यक्ष के रूप में कार्य किया था। बीएससी डिग्री हासिल करने वाले डॉक्टर मेघ ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए. किया और फिर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में ही पीएच.डी. की डिग्री हासिल की। यहां उनके गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उनके गाइड रहे। मेघ बताते हैं कि “उनके गुरु का कद बहुत ऊँचा था, जिनके सामने वह छोटे-छोटे जंगली फूलों की तरह थे, उन्होंने हमें हरसिंगार में तब्दील कर दिया।” डॉक्टर मेघ बताते हैं कि उनका पीएच.डी. का वायवा महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने लिया। उन्होंने पूछा

कि— नौजवान जीवन में क्या करना चाहते हो। मैंने कहा— मैं मध्यम वर्ग से आता हूँ और नौकरी ही करना चाहता हूँ। उन्होंने फिर पूछा— लिखने-पढ़ने के बारे में क्या विचार है? तो मैंने कहा कि कविताएँ, कहानियाँ लिख लेता हूँ। महापंडित ने कहा कि नौजवान तुम्हारे अंदर विलक्षण प्रतिभा है, तुम कविता कहानी छोड़कर आलोचना के क्षेत्र में आगे बढ़ो।

खुद डॉक्टर मेघ मानते हैं कि वह मुख्यतः चित्रकार थे और उनकी आँखों की दृष्टि गड़बड़ होने लगी तो डॉक्टर की सलाह पर चित्रकारी करना छोड़ दिया। हम जानते हैं कि डॉ. रमेश कुंतल मेघ के अध्ययन अध्यापन का कार्य क्षेत्र आरा (पटना) से अरंकसास (पाइन ब्लफ) तक फैला हुआ है। रीडर-इन्चार्ज हिन्दी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी, पूर्व प्रोफेसर और अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय और अमेरिका की अरंकसास यूनिवर्सिटी, पाइन ब्लफ (यू.एस.ए.) में फुल ब्राइट प्रोफेसर रहे हैं। वह कला समीक्षक, आलोचिन्तक, सौन्दर्य शास्त्री, मिथक व्याख्याता, दार्शनिक, इतिहास अन्वेषक हैं। और कहा जाए कि वह हिन्दी की विरल मेधा के मेघ हैं तो ये शब्द उनकी प्रतिभा और प्रज्ञा के सामने छोटे पड़ जाते हैं।

लेखन साहित्यिक नहीं, समाज विज्ञान

डॉ. मेघ का लेखन साहित्यिक नहीं, समाज विज्ञान है। उनका मानना है कि सौंदर्य के साथ-साथ चिंतन आना चाहिए कि मनुष्य की समस्याएँ, जीवन एवं समाज कैसे आगे बढ़ रहा है। अर्थात् कविता, कहानी से बात नहीं बनेगी, जो कि देश की राजनीतिक, आर्थिक स्थिति पर फोकस करना होगा। डॉ. मेघ

कहते हैं कि देश का नवयुवक जाने की देश की राजनीति में क्या चल रहा है, आर्थिक स्थिति क्या है, यह लिखना जरूरी है, वही मैं लिखता हूँ।

हिन्दी साहित्य के अनछुए विषयों पर उनका लेखन अति विशिष्ट और अद्वितीय है। यह विशिष्ट रूपात्मकता उनकी पुस्तकों के शीर्षकों और आवरणों से झलकती है। उनकी दो दर्जन के लगभग पुस्तकों में- साक्षी हैं सौंदर्य प्राश्निक, अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मिथक और स्वप्न: कामायनी की मन-सौन्दर्य सामाजिक भूमिका, वाग्मी हो लो, काँपती लौ, आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण, क्योंकि समय एक शब्द है, तुलसी-आधुनिक वातायन से, मन खंजन किनके, हमारा लक्ष्य खिलाने हैं लीला कमल, विश्वमिथक सरित्सागर... आदि शामिल हैं। अपने सतत सघन संधान, अंतरानुशासनात्मक अध्ययन, मिथक और मिथक आलेखन तथा सौंदर्यशास्त्र जैसे विशिष्ट क्षेत्रों के चिन्तन-मनन लेखन में डॉ. मेघ हिंदी साहित्य के शिखर पर अकेले ही खड़े दिखाई देते हैं। उनका आलोचना, कला सौंदर्यशास्त्र और मिथक सम्बन्धी चिन्तन भारत तक ही सीमित नहीं अपितु विश्व की अनेक पुरातन सभ्यताओं से ताल्लुक रखता है। इस विश्वव्यापी सफर में डॉ. मेघ हिंदी के ऐसे विरले साहित्य साधक हैं जो ज्ञान-कुंडलियों को साधने, प्रागैतिहासिक (प्री-हिस्ट्री) की बीहड़ सभ्यताओं का इतिहास खोजने एक "नोमड एक्सप्लोरर" की भाँति निकल पड़े।

प्रो. मेघ का हिन्दी प्रेम

सरकारी कार्यालयों में इंग्लिश के प्रयोग पर डॉ. मेघ कहते हैं कि यह सरकार की पॉलिसी है। पंडित जवाहर लाल नेहरू के समय में दो चीजें गलत हुईं, संविधान में हमारे लिख दिया गया है कि इंडिया दैट इज भारत और इंग्लिश दैट इज "हिन्दी"। क्या मजाक

है, कोलंबो खुद को श्रीलंका का नाम दे सकता है, तो "हिन्दुस्तान" को भारत क्यों नहीं कर सकते। न अपनी भाषा, न देश का नाम। नेहरू जी ने कहा था कि 10 साल बाद ठीक हो जाएगा, लेकिन आज तक ठीक नहीं हुआ। बहुत बड़ा मजाक हुआ था।

सामाजिक पंचांगों की चर्चा

रमेश कुंतल मेघ की "विश्व मिथक सरित्सागर" पुस्तक में वास्तुशास्त्र, समाजशास्त्र, सौंदर्यबोधशास्त्र, समाज विज्ञानों के हाशियों पर भी मिथकों के नाना पाठरूपों (भरतपाठ से लेकर उत्तर-आधुनिक पाठ) और "सामाजिक पंचांगों" के बारे में चर्चा की गई है। इसमें विश्व के लगभग 35 देशों की मिथक गाथा, विश्व धरोहर की 9 संस्कृतियों के मिथक-चित्र-आलेखकारी, विश्व के मिथक-भौगोलिक मानचित्रों का लेखा-जोखा और दुर्लभ चित्रफलकों की कूची से उकेरती विश्वमिथक गाथाओं को शामिल किया गया है। यूगोस्लाविया, सोवियत संघ, कजाकिस्तान, अमेरिका, चीन में सेमिनार, कांफ्रेंस में भाग ले चुके हैं।

साहित्यिक योगदान

डॉ. रमेश कुंतल मेघ के साहित्य पर कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्रभाव रहा, इस कारण उन्हें कार्ल मार्क्स के चिंतक या ध्यान-शिष्य के रूप में जाना जाता रहा है। इसके साथ ही उनके जीवन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का भी प्रभाव रहा है, इस नाते उन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अकिंचन शिष्य माना गया है। वे सौंदर्यबोध शास्त्र, देहभाषा, मिथक आलेखकार, समाज वैज्ञानिक के साथ वैश्विक दृष्टिकोण के विनायक एवं अनुगामी, आलोचक-चिन्तक माने जाते रहे हैं। रमेश कुंतल मेघ ने आलोचनात्मक

साहित्य साधना की शुरुआत जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कृति “कामायनी” से की। मध्यकालीन साहित्य के सौंदर्य शास्त्रीय विश्लेषण के लिए उनके योगदान को हमेशा याद किया जाएगा। “विश्व मिथक सरित्सागर”, “मनखंजन किनके”, “काँपती लौ”, “मिथक से आधुनिकता तक” आदि उनकी विशेष ख्यातिप्राप्त कृतियाँ रही हैं। मेघ को उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान तथा बिहार सरकार के राजभाषा विभाग के सम्मान सहित आलोचना पुस्तक “विश्व मिथक सरित्सागर” के लिए वर्ष 2017 का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। यह कृति घने परिश्रम और सघन चिंतन के सहारे तैयार की गई थी।

प्रमुख कृतियाँ :

- मिथक और स्वप्न
- कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका (1967)
- तुलसी: आधुनिक वातायन से (1967)
- आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (1969)
- मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध
- क्योंकि समय एक शब्द है (1975)
- कला शास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी क्रांतियाँ
- सौन्दर्य-मूल्य और मूल्यांकन
- अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा (1977)
- साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक (1980)
- वाग्मी हो लो!
- मन खंजन किनके (1985)
- कामायनी पर नई किताब
- खिड़कियों पर आकाशदीप

प्राप्त सम्मान और पुरस्कार

हिंदी साहित्य में उल्लेखनीय योगदान के लिए

हरियाणा साहित्य अकादमी ने उन्हें वर्ष 2014 का पंडित माधव प्रसाद मिश्र सम्मान प्रदान किया था। वह उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण और डॉ. लोहिया साहित्य सम्मान से भी पुरस्कृत थे। वर्ष 2017 में उनकी पुस्तक विश्व मिथक सरित्सागर के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से अलंकृत किया गया था। “विश्व मिथक सरित्सागर” नामक प्रथम हंसगान के सहवर्तन में “मानवदेह और हमारी देहभाषाएं” नामक दूसरा ग्रन्थ वर्ष 2015 में प्रकाशित हुआ था। इसके अलावा उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कार प्राप्त किए।

मनीषियों की नजर में प्रोफेसर मेघ

“प्रो. मेघ विज्ञान के विद्यार्थी थे, बीएससी के बाद वह हिंदी की ओर बढ़े और बढ़ते चले गए। हिंदी साहित्य में उनका बेहतरीन योगदान है। अलग-अलग देशों के विश्वविद्यालयों में उन्होंने हिंदी पढ़ाई। वह खुले मन से सभी से बात करते थे। वह हमेशा याद किए जाएंगे।” - डॉ. शशि प्रभा, साहित्यकार

“साहित्य के गंभीर अध्येता प्रो. रमेश कुंतल मेघ आलोचनात्मक ग्रंथों के साथ अपनी कालजयी कृतियाँ साहित्य को सौंपी हैं। जीवन के 92 वर्ष पूर्ण कर एक सितंबर 2023 को परम सत्ता में विलीन हो गए। उन्होंने जीवन अपने मूल्यों व शर्तों पर जिया, वह ज्ञान के पुंज थे। आने वाली पीढ़ियाँ भी उन्हें याद करेंगी। उन्होंने कालजयी कृतियाँ साहित्य को सौंपी। सदी के महान साहित्याकार को विनम्र श्रद्धांजलि।” - डॉ. दलजीत कौर

साहित्यकार

“प्रो. रमेश कुंतल विश्वकोषीय ज्ञान के धनी थे। साहित्य मनीषी प्रगतिवादी विचारधारा के पोषक, सदैव

उत्साहित करने वाले थे। मेरी पत्नी डॉक्टर नीलम गोयल ने उनके निर्देशन में वर्ष 1980 में पीएचडी पूरी की। उनसे पहली मुलाकात डीएवी कॉलेज में हुई थी। साहित्य के मनीषी थे। प्रगतिवादी विचारधारा के पोषक, सदैव उत्साहित करने वाले थे। उन्होंने प्रसिद्ध साहित्यकार हजारी प्रसाद द्विवेदी के मार्गदर्शन में पीएच.डी. और उनका वाइवा डॉ. राहुल सांस्कृत्यायन ने लिया था।” - जंग बहादुर गोयल, लेखक

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ हिंदी भाषा के एक प्रतिष्ठित रचनाकार ही नहीं थे, वे अपने आप में एक वैचारिक संस्थानमय व्यक्तित्व रहे हैं। एक ऐसा व्यक्तित्व जो अपने जीवन में जिस लक्ष्य-संधान के लिए बढ़ा उसे केवल अपने निजी प्रयोजनों तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उसकी व्यापक वैश्विक प्रतिष्ठा के लिए दृढ़ संकल्प से कार्यान्वित भी किया।

“आशा है हिंदी भाषा के रचनाकार, सदैव उनके भाषा एवं साहित्य-संवर्धन के प्रयासों से प्रेरणा लेकर इसकी सुदृढ़ वैश्विक पहचान बनाने को दृढ़ संकल्पित रहेंगे।” - डॉ. प्रेमलता चसवाल “प्रेमपुष्प” संपादिका अनहद कृति ई-पत्रिका

निधन

हिंदी साहित्य की दुनिया में प्रतिष्ठित आलोचक और चिंतक रमेश कुंतल मेघ का 1 सितंबर, 2023 को 92 वर्ष की उम्र में हृदयाघात के कारण निधन हो गया। वे चंडीगढ़ में अपनी पुत्री शिप्राली टंडन के साथ रहते थे तथा लंबे समय से बीमार चल रहे थे। जनवादी आलोचना के स्तंभ कहे जाने वाले प्रो. रमेश कुंतल मेघ की इच्छानुसार उनके परिजनो ने उनकी

पार्थिव देह को दान कर दिया। इसके चलते उनका अंतिम संस्कार नहीं किया गया। जीवन भर साहित्य की सेवा करने वाले प्रो. मेघ मृत्यु के पश्चात् समाज को सांसारिक नश्वरता का संदेश दे गए। ऐसे महामानव का धरती पर अवतरण होना कोई साधारण घटना नहीं है। वह एक सच्चे प्रगतिवादी वामपंथी धारा के अनुयायी थे। मार्क्सवाद उनकी रग-रग में बसा हुआ था। अपनी प्रगतिशील विचारधारा को सार्थक करते हुए उन्होंने अपना शरीर तक मेडिकल रिसर्च के लिए पीजीआई चंडीगढ़ को दान कर दिया। 6 सितंबर 2023 को चंडीगढ़ के सेक्टर 22 के कम्युनिटी हॉल में उनकी श्रद्धांजलि सभा हुई, जिसमें बहुत सारे गणमान्य व्यक्तियों ने भाषण दिए और मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की, जिसका निष्कर्ष निम्नलिखित पंक्तियों में बयान किया जा सकता है:- “हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती रही; बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।”

निष्कर्ष

निष्कर्षतः डॉ. मेघ का अनूठा सृजनात्मक योगदान उनकी पुस्तकें कला-संस्कृति, सौन्दर्यशास्त्र, मिथकोलोजी व इतिहास के ऐसे मानक प्रस्तुत करती हैं, जहाँ से ज्ञान की अनेक धाराएँ फूटती हैं जिन्हें साधना हिंदी साहित्यकारों के लिए चुनौती बना रहा है। वह कला समीक्षक, आलोचिन्तक, सौन्दर्य शास्त्री, मिथक व्याख्याता, दार्शनिक, इतिहास अन्वेषक हैं और कहा जाए कि वह हिंदी की विरल मेधा के मेघ हैं तो ये शब्द उनकी प्रतिभा और प्रज्ञा के सामने छोटे पड़ जाते हैं।

रमेश कुंतल मेघ : कलाकार और बालपन का मोहक, मिथवीय रूपालेख!

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

एक ऐसा नाम, जो एक ओर कलाकार है, तो दूसरी ओर नादान बालमन का मालिक, एक ओर कान का पतला है, तो दूसरी ओर विह्वल है, एक ओर हँसता-खिलखिलाता हुआ 'सेक्स' की सतही बातों में रसानन्द से भर उठता है, तो दूसरी ओर अपने ज्ञान और चिन्तन की गम्भीरता और परिपक्वता से बड़ी-से-बड़ी मान्यताओं को खंडित कर अपनी नयी मान्यताओं से चमत्कृत कर देता है। उसमें प्रतिशोध की प्रबलता है, तो कृतज्ञता भी है, कामिनी और काम्बरी, इसकी दुर्बलता रही है तो साहित्य सौन्दर्यशास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान का चिन्तन और लेखन उसकी सबलता। मेरी दृष्टि में सांसारिक दृष्टि से वह एक नितान्त अव्यावहारिक व्यक्तित्व रहा है—अपनों के द्वारा उगा, छला और लूटा गया व्यक्तित्व, दुर्बल और सबलता के एक साथ पूंजीभूत व्यक्तित्व का नाम है रमेश कुंतल मेघ।

मैं डॉ. रमेश कुंतल मेघ के नाम से पहली बार तब परिचित हुआ था जब पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर इस नाम से छपने वाले आलेखों और उसके लेखक को बार-बार बड़ी उत्सुकता से पढ़ा और जाना था। यह नाम तब अपरम्परित होने के कारण मेरे लिए विशिष्ट बन गया था और अपनी ओर खींचता भी था। सामान्य तौर पर प्रायः ऐसे नाम पढ़ने-सुनने को नहीं मिला करते थे। मुझे लगता था कि इसमें पहला पद ही नाम है, शेष दो पद काव्यात्मक आकर्षण के लिए जोड़े गये हैं। यह तो मुझे बहुत बाद में ज्ञात हुआ कि इनका मूल नाम रमेश कुमार मिश्र था। इनकी सारी शिक्षा इसी नाम से हुई थी। इसी नाम के साथ यह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में इलाहाबाद से बनारस (वाराणसी) सोपाधि शोध-कार्य करने गये थे और द्विवेदी जी के निर्देशन में ही इन्होंने अपनी पीएच.डी.

उपाधि प्राप्त की थी। प्रायः उन दिनों द्विवेदी जी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ सांध्य वेला में भ्रमण के लिए निकला करते थे। उनका यह सांध्य भ्रमण ज्ञान-विषय चर्चाओं से भरा रहता था। उस क्रम में एक संध्या रमेश कुमार को अनुपस्थित पाकर उन्होंने जिज्ञासावश यह पूछा था कि अरे, वह लड़का कहाँ है, जिसके लम्बे-लम्बे कुंतल मेघ हैं? जब रमेश कुमार मिश्र के आने पर उन्हें सांध्य-भ्रमण के अन्य शोधार्थी-प्रतिभागियों ने उन्हें यह प्रसंग सुनाया था तब मिश्र जी को "कुंतल मेघ" का यह युग्म पद इतना पसंद आया कि उन्होंने इसे अपने मूल नाम "रमेश" के पश्चात् उत्तर पद के रूप में अपने नाम का अंश ही बना लिया।

इस नाम के साथ-साथ उनके आलेखों का विषय और प्रतिपादन भी नवीन, आकर्षक और प्रभावी हुआ करता था। यह सहज ही कहा जा सकता है कि इनका लेखन हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में चालू लेखन से सर्वथा अलग और विशिष्ट ही नहीं, बल्कि नयी-नयी जमीन तोड़ने वाला होता था। इस अर्थ में डॉ. मेघ आरंभ से ही मौलिक और विशिष्ट लेखक रहे।

मैंने रमेश कुंतल मेघ की पहली पुस्तक "तुलसी : आधुनिक वातायन से" 1969 ई. में ही पढ़ी थी। यह ग्रन्थ हिन्दी आलोचना में "शिफ्ट" और "ग्रोथ" का पहला और अद्भुत दृष्टान्त है। उन दिनों रमेश कुंतल मेघ के साथ-साथ मैं भी कई पत्र-पत्रिकाओं में छपा करता था और इसी लेखकीय सहयात्रा के कारण मेरा उनसे पहला परिचय भी हुआ था। "विश्वभारती पत्रिका" (शांतिनिकेतन) में "वर्ण-चमत्कार का कवि निराला" शीर्षक से मेरे दो आलेख उसके दो अंकों में क्रमशः छपे थे। अचानक एक दिन जब मैंने डाक में आया एक अंतर्देशीय पत्र खोला, तो वह डॉ. रमेश कुंतल मेघ का पत्र था— "भाई, खूब

लौ और लगन के साथ लिख रहे हो।” “वर्ण चमत्कार का कवि निराला” के दूसरे आलेख के साथ आपका यह आलेख मुकम्मल हो जाता है और एक पूरा आर्टिफैक्स बन जाता है। हिन्दी को अपने लेखन की मशाल से प्रकाशित करते रहिए, यही शुभकामनाएँ हैं। उनके इस पत्र के बाद से ही मेरा और उनका पत्राचार आरम्भ हो गया और यह तब तक चलता रहा तब तक कि मैं स्वयं भागलपुर विश्वविद्यालय से गुरु नानक देव विश्वविद्यालय में नियुक्त और पदस्थापित नहीं हो गया। इसके बीच मेरे एक पीएच.डी. शोधार्थी चन्द्रकिशोर यादव ने भी उनसे पूछताछ के लिए लगातार पत्र-व्यवहार किया था। वह “रामचरितमानस” में “बिम्ब-विधान” पर अनुसन्धान कर रहे थे। इसी संबंध में वह उनसे आलोचित होते रहते थे।

सन् 1976 में मेरे निर्देशन में मेरे तीसरे पीएच.डी. शोधार्थी का शोध-प्रबन्ध जमा हो रहा था। मुझे देश के कुछ विद्वानों की वैसी नामिका परीक्षक के रूप में प्रस्ताविक करनी थी जिसे पहले के दो शोधार्थियों में नहीं रखा गया हो। तब मैंने प्रो. मेघ का नाम भी उस नामिका में दिया था। एक बार वह सुरेन्द्र झा नामक मेरी उस शोधार्थी (अब दिवंगत) के शोध-प्रबन्ध “छायावादी काव्य में काम तत्त्व” के परीक्षक नियुक्त हुए। संयोगवश वह उसकी मौखिकी लेने के लिए भी आए। जब प्रो. रमेश कुंतल मेघ भागलपुर विश्वविद्यालय पधारे तब मैंने उन्हें पहली बार देखा-गौर वर्ण, छह फुट लम्बी ग्रीक काया, सिर पर लम्बे कुंतल-जाल, आँखों में चमक, ऊपरी दाँत थोड़े उठे हुए, दुंतल दुग्ध-धवल मुस्कान, ज्ञान-वार्ता में गम्भीरता और गहनता। मैंने उन्हें अपने आवास पर ही ठहराया था, जबकि दूसरे परीक्षक विश्वविद्यालय के अतिथि-भवन में ठहरे थे। मौखिकी सम्पन्न करने के बाद उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि वह विक्रमशिला विश्वविद्यालय का वह अवशेष-स्थल देखना चाहते हैं, जिसकी वहाँ उन दिनों खुदाई चल रही थी। बड़ी शीघ्रता में प्रबंध किया गया। जब हम लोग विक्रमशिला पहुँचे, तो वियाबान में रात का अँधेरा घिर चुका था। वहाँ आर्केलॉजिकल कैम्प लगा था, खुदाई चल रही थी।

उसमें मेरा एक पूर्व छात्र भी कार्यरत था। उसने बड़ी सहायता की। चलते हुए “पैट्रोमैक्स” के प्रकाश में मैंने मेघ जी को वह सारा-कुछ दिखाया, जो वहाँ खुदाई में निकला था। उसमें “टेराकोटा” की बहुत सारी मूर्तियाँ भी थीं। भवन की भग्न दीवारें थीं, द्वार थे, व्यवस्थित नालियों का अवशेष था। कमरों के चारों ओर की भग्न दीवारों से उस समय बन रहे कमरे का स्वरूप था। देर रात तक यह सब कुछ देखने-दिखाने के बाद हम लोग वापस भागलपुर लौट आए। मेघ जी का उत्साह और उनकी यायावरी देख कर मैं जहाँ चकित-विस्मित था, वहीं आह्लादित भी था। डॉ. मेघ की एक और इच्छा शेष थी। उन्होंने भागलपुरी सिल्क के बने कुछ रेशमी वस्त्र खरीदने की बात कही थी। वह अपने गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के लिए अगले दिन 11 बजे प्रातः सिल्क की एक अच्छी “शॉल” खरीद पाये।

भागलपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में उन्होंने अपना गुरु-गंभीर ज्ञानमय संबोधन भी किया। वहाँ से लौटते हुए स्नातकोत्तर विभाग के कुछ छात्रों ने यह चाहा कि उनके साथ एक फोटो स्नेप करवाया जाए, तो वहाँ के निकटवर्ती स्टुडियों में जाकर हिंदी विभाग के अध्यक्ष तथा कुछ अध्यापकों, शोधार्थियों के साथ फोटो भी स्नेप करवाया गया। विजेन्द्र जी ने उन्हें होटल-वार में ले जाकर सोम-पान भी कराया। इसके दूसरे दिन मेघ जी अमृतसर लौट गये। उनसे इस पहली बार के परिचय में उनके ज्ञान के मैक्रो प्रभावमंडल से लोग बहुत प्रभावित हुए थे।

आज से 47 वर्ष पूर्व मैं पहली बार अमृतसर आया था। यहाँ एक P.L.L.C. (पंजाबी लैंग्वेज, लिटरेचर एंड कल्चर) विभाग हुआ करता था। उसने C.I.I.L. मैसूर तथा यू.जी.सी. के सहयोग से “एंडवास्ड समर स्कूल इन लिंग्विस्टिक्स” का आयोजन किया था। 1977 का वर्ष था और 21 मई की तारीख थी। आयोजन 21 दिनों के लिए था। मैं एक प्रतिभागी-अध्यापक के रूप में आया था। बिशन सिंह समुंदरी कुलपति थे और प्रो. करनैल सिंह थिंड विभागाध्यक्ष थे। जब समर स्कूल समाप्त हुआ, तो समापन समारोह

के कुछ दिन पूर्व डॉ. मेघ मुझसे मिलने आये और आग्रह किया कि उनके विभाग में भी तीन सप्ताहों का एक समर स्कूल आलोचना की नयी प्रणालियों पर आयोजित है। आप उसमें "रिसोर्स पर्सन" के रूप में रहेंगे। अतः यहाँ से मुक्त होते ही आप अब शेष पन्द्रह दिनों के लिए इस आयोजन में हमारे अतिथि होंगे। आपकी आवासीय और भोजनादि की व्यवस्था हमारी ओर से होगी। अतः आप इससे मुक्त होते ही भागलपुर नहीं लौटेंगे, इसकी खबर आप अपने घर तत्काल भेज दे। मैंने उनका यह प्रीत आमंत्रण स्वीकार कर लिया। मैंने पहले आयोजन से मुक्त होते ही वहाँ छह निश्चित दिनों में छह व्याख्यान दिये। मेरे सारे व्याख्यान बहुत ही सराहे गये। उसमें विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, नरेन्द्र मोहन, नरेन्द्र कोहली, बच्चन सिंह, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, कर्ण सिंह चौहान, लल्लन राय, राजेदव सिंह आदि सर्जक और अध्यापक विद्वान सम्मिलित हुए थे। दोनों जगहों पर मुझे बहुत यश और मान मिला। हिन्दी के समर स्कूल में तो मुझे मेघ जी ने ही श्रेय और प्रेय प्राप्त करने का अवसर दिया।

मेघ जी का लेखन जहाँ विराट है, वहाँ गहन भी है। उनमें ज्ञान और चिन्तन का फलक मैक्रो और माइक्रो-दोनों ही हैं। मैंने एक बार उनके विभाग में उनके तथा अन्य विभागीय सहयोगियों के साथ चाय पीते हुए, 11 बजे से 11:30 बजे के बीच विभाग में कहा था कि "आप यदि थोड़ा धैर्य से अपने चिन्तन को सुलझा कर लिखते, तो आप रामचन्द्र शुक्ल से संभवतः बड़े आलोचक सिद्ध हो पाते। आप जितनी सही और नयी बातें कहते हैं, उन सबके सम्प्रेषणीय और प्रभावपरक होने में कहीं अधिक सफलता मिलती।" इस पर उन्होंने मुझे तत्काल कहा था- शीतांशु जी, मुझमें इतना धैर्य नहीं है। मैं जल्दी-से-जल्दी ज्ञान-विषय अपनी नयी सोच कागज के पृष्ठों पर उतार देना चाहता हूँ।

मेघ जी का परिवार बहुत आत्मीय था। एक जीवन-संगिनी और तीन आत्मजाओं (नीलू, बिन्नी और कुक्कू) का संस्कारवान परिवार। भाभी जी श्रीमती मनोरमा मिश्र थीं। मेघ जी उन्हें मन्त्रो जी कहकर पुकारते। वह थीं शत-प्रतिशत भारतीय नारी। पातिवर्त्य-

धर्म का पूरी तरह निर्वाह करने वाली, भावनामयी नारी। सदा साड़ी में सुसज्जित। मूली की परौठी बहुत अच्छी बनातीं। न जाने कितनी बार मुझे उनके हाथों का बना खाना खाने का सौभाग्य मिला होगा।

मेघ जी अध्येता थे, चिंतक थे और लेखक थे। उनके मुख्य लेखन-क्षेत्र में सौंदर्य-शास्त्र था। वह इसे सौंदर्यबोध-शास्त्र कहा करते थे। उस समय हिन्दी में दो ऐसे व्यक्तित्व सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में उभर कर आए थे। इनमें एक थे डॉ. कुमार विमल और दूसरे थे डॉ. रमेश कुंतल मेघ। मेघ जी की दो पुस्तकें सौंदर्य-शास्त्र पर आई:- 1. अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा और 2. साक्षी है सौंदर्यप्राश्निक। सौंदर्य के क्षेत्र में जो भी काम करना चाहेगा उसे इन दोनों पुस्तकों से अनिवार्य रूप से गुजरना होगा।

सौंदर्यशास्त्र के अतिरिक्त आधुनिकता और आधुनिकीकरण के ऊपर भी मेघ जी ने श्रेयस्कर कार्य किया। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक "आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण" मील का पत्थर सिद्ध हुई है।

साहित्य-सिद्धांत के क्षेत्र में मेघ जी जहाँ अपने अनेकविध चिंतन और लेखन में सक्रिय रहे, वहीं व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किए। इस क्षेत्र में उनकी पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक "तुलसी : आधुनिक वातायन से" थी। तब तक विद्वानों ने तुलसी पर अपनी-अपनी जो पुस्तकें लिखी थीं उनसे यह पुस्तक सर्वथा अलग थी। इसमें तुलसी के काव्य-वैशिष्ट्य पर नए ढंग से प्रकाश डाला गया था। एक बड़ी बात यह थी कि मेघ जी ने अपनी इसी पुस्तक के साथ हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया था। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने कवि भारती की "कनुप्रिया" और नागार्जुन तथा जगदीश चन्द्र के अनेक आलेख लिखे। उन सबका संकलन, उनकी बृहत्काय आलोचना-पुस्तक "क्योंकि समय एक शब्द है" में संकलित है। इसमें द्विवेदी जी की "वाणभट्ट की आत्मकथा" की कथा-संरचना के साथ-साथ हिन्दी की कुछ विशिष्ट कहानियों पर भी विचार किया गया है। उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी की बाणभट्ट की कथा-संरचना, जगदीश चंद्र वैद्य के उपन्यास "धरती धन

न अपना" तथा नागार्जुन के बलचनमा उपन्यास पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने हिन्दी की समकालीन सात विशिष्ट कहानियों के मर्म का भी उद्घाटन किया है।

उनके इस संकलन में कुछ सैद्धांतिक पाठ भी हैं। इनमें एक पाठ आधुनिकता के तीन चरणों का विवेचन करता है। 'राम की शक्ति पूजा' की नाटकीयता और "शक्तिपूजा", "सरोज स्मृति" के पारस्परिक रूपान्तरण के तुलनात्मक संदर्भ पर भी विचार किया है।

उन्होंने अपना बहुत समय मिथक-चिंतन पर लगाया है और देह-भाषा पर भी विमर्श किया है। उनकी स्थापनाएँ नयी हैं। आद्यप्ररूप (Archetype) आदिबिंब और मिथक पर सर्जनात्मक चिंतन करने वाले रमेश कुंतल मेघ हिन्दी के एक सैद्धान्तिक चिन्तक हैं। व्यक्तित्व की जुड़े मिथकों की सृष्टि भी करती रहीं। उन्होंने मिथकों का अर्थ-सचेत भी किया। अपने लेखन के अंतिम चरण में वे साहित्यिक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किये गये।

डॉ. मेघ पाश्चात्य ज्ञान-वैभव से निरंतर प्रभावित रहे। अपने चिंतन और आलोचना के क्षेत्र को वह उस ज्ञान-वैभव के निरंतर परिपारित करते रहे।

आरंभ में वह विज्ञान के विद्यार्थी थे और स्नातक स्तर तक उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई की थी। इसलिए साहित्य को उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से भी आँकने की चेष्टा की। डॉ. मेघ को भव्य दैहिक व्यक्तित्व मिला था। उनके पास रस-राग पूर्ण हृदय था। इसी हृदय ने उन्हें कवि और कलाकार बनाया था। वह कवि थे और तूलिका से रेखाओं को उभारते हुए उसे जीवंतता और प्राणमयता देने वाले साधो चित्रकार थे। उनके व्यक्तित्व में ज्ञान के अनेक आयाम थे। इनमें एक कोण प्राच्य भारतीय कला-कृतियों का भी था। यक्ष और यक्षिणियों के प्रति उनका आकर्षण अदम्य और अभूतपूर्व था। काव्य में निरूपित यक्ष और यक्षिणियों के साथ भित्ति चित्रों में निरूपित यक्षिणियों से तथा मूर्ति के टेराकोटा से की जाने वाली तुलना के आग्रही थे। उन्होंने इस दृष्टि से स्वयं भी कुछ आलेख लिखे थे तथा अपने कुछ शोध-छात्रों से भी महत्त्वपूर्ण

अनुसंधान-कार्य करवाए थे। उनमें सुमनिका मेहरा (सेठी), जगदीश मिनहास और नीलम शर्मा (नीतू) के नाम प्रमुख हैं।

उन्होंने सौंदर्यबोध-शास्त्र की दृष्टि से गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एस्थेटिक्स का म्युजियम बनाया था। यहाँ करीने से टेराकोटा की मूर्तियाँ सजाई गई थी। पर उनका कोई भी योग्य शिष्य न अमृतसर के हिन्दी विभाग में आ पाया और न ही वह इस ज्ञानानुशासन के प्रति इतना निष्ठावान बन पाया, जो उनकी इस परंपरा को आगे बढ़ाता और समुचित दिशा दे पाता। बाद में वह म्युजियम कहाँ गया वे मूर्तियाँ कहाँ गई, ज्ञान को जीवंत बनाये रखने वाले इस कवि, कलाकार और आलोचक की यह मानसिक-भौतिक सर्जना कहाँ चली गई, कुछ पता नहीं चला। उन्होंने अपने साहचर्य और सान्निध्य में जिन्हें अपना पुत्रवत मानकर अपनी परंपरा अपनी मानुषी चेतना और ज्ञान की हार्दिक संरचना सौंपी, उन्होंने ही इन सब को तिरस्कृत कर दिया। मेघ जी की लगाई हुई सौंदर्य-वाटिका उन्हीं के शिष्य हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने उखाड़-उजाड़ फेंकी और उन्हीं के सुहृद और उनके पुत्रवत स्नेहिल ममत्त्व पाने वाले ओम अवस्थी ने उन्हें उपेक्षित-तिरस्कृत कर डाला।

मेघ जी रचना-प्रक्रिया पर भी चिंतन करते थे। उन्होंने मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से भी विचारशील लेखन किया था। इस विषय पर उनकी दो पुस्तकें गुरु नानक देव विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई।

रमेश कुंतल मेघ द्विवेदी जी के चंडीगढ़ पहुँचने के पहले बिहार के जैन कॉलेज आरा में हिन्दी के प्राध्यापक थे। बाद में वह उस नौकरी को छोड़कर पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में नियुक्त होकर चंडीगढ़ आ गए थे। 1973 में मेघ जी गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर-अध्यक्ष बने। तब से उन्नीस वर्षों तक वह यहाँ रहे। 1977 से मैं आने के बाद से निरंतर उनके सान्निध्य और साहचर्य में रहा। उनके बहुत निकट भी रहा और उनसे बहुत दूर भी हुआ। मेरे प्रोफेसर-अध्यक्ष बनने के बाद छह वर्षों तक वह विभाग में सीनियर प्रोफेसर के रूप में

बने रहे। एक वर्ष का विस्तार-काल लेने के बाद 1992 में उन्होंने अवकाश-ग्रहण किया। उनसे किसी समय मेरी पारिवारिक मैत्री और आत्मीयता थी पर बाद में वह नहीं निभ पायी। मेरी उनकी अकादमिक ज्ञानमैत्री मेरे यहाँ आने के पहले से जीवन्त थी, जो उनके देह त्यागने के पूर्व तक बनी रही थी।

उनका पाँव 1990 में टूट गया था। उन दिनों वह अमृतसर सरकारी अस्पताल के फैमिली वार्ड में अपना उपचार करा रहे थे। मैं उन्हें देखने उनका हाल-समाचार लेने जाया करता था। एक दिन जब मैं वहाँ गया तब वह अपने बिस्तर पर लेटे थे और उनके हाथ में “गगनांचल” पत्रिका का एक ताजा अंक था, जिसे वह पढ़ रहे थे। अपने एक पाँव को लम्बा किए हुए ही वह तकिए की टेक लेकर उठ गए। मैं उनके बारे में उनका हाल जानने के लिए कुछ पूछूँ कि इसके पहले ही वह उसी पत्रिका में “कैदी और कोलिका” पर मेरी लिखी आलोचना की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने लगे। वह अच्छे लेखन की मुक्त भाव से प्रशंसा किया करते थे और मुक्त कंठ से उस रचना और रचनाकार के महत्त्व को रेखांकित करते थे। उनके अंतिम दिनों की एक स्मृति और है। उस दिन सवेरा हो चुका था। साढ़े छह का समय हुआ होगा। मैं देर रात साढ़े बारह बजे तक अपनी स्टडी में काम कर रहा था। एक बजे के लगभग सोया था। सवेरे साढ़े छह और सात के बीच का समय था और मैं अब तक सोया ही था। तभी मोबाइल की घंटी ने मुझे जगा दिया। मैं उठा और मोबाइल पर “हेलो” कहा। दूसरी ओर से आवाज़ आई— शीतांशु जी, भाई, बहुत अच्छा लिखा है आपने। बधाई लीजिए। “साक्षात्कार” में मैं भर्तृहरि और चॉम्स्की पर लिखा आपका लेख पढ़ गया हूँ। बहुत अच्छा लिखा है आपने। मैंने कहा— डॉक्टर साहेब यह आपकी दृष्टि है जो इस आलेख को सराह रही है। मैं प्रसन्न हूँ कि आपने कभी विभागीय समीकरण और गणित में मुझे अपने से दूर करने के बावजूद अकादमिक और रचनात्मक क्षेत्र में आपने कभी मुझे अपने से दूर नहीं रखा और मुझे निरंतर सराहते रहे।

मेघ जी ज्ञानग्राही होने के साथ-साथ गुणग्राही

भी थे। वह देर रात तक पढ़ते और लिखते रहते थे। उनमें दो दुर्बलताएँ थी। एक मद्यपान की और दूसरे कामाग्रद की। संध्या के समय साथ-साथ घूमते हुए ग्रीक नारी के नग्न सौंदर्य की वह प्रशंसा किया करते थे। बिना किसी संकोच और नैतिक बंधन के। मेरे जीवन में दो ऐसे व्यक्ति आए— एक रमेश कुंचल मेघ और दूसरे श्री नरेश मेहता, जो नारी के नग्न सौंदर्य के प्रशंसक थे। मेघ जी के साथ मैं पन्द्रह वर्षों तक रहा और नरेश मेहता के सानिध्य में उज्जैन में 15 दिनों तक, पर दोनों अपने-अपने क्षेत्र के प्रजापति थे। नरेश मेहता सर्जनात्मक प्रजापति थे और मेघ जी आलोचनात्मक प्रजापति थे।

मेघ जी ने जो लिखा है वह अप्रतिस्थापनीय है। बस एक ही आरोप उन पर किया जाता रहा है कि उन्होंने अपनी भाषा की दुर्बोधता को मिटाने का कभी प्रयास नहीं किया। इसलिए उन्हें पूरी तरह पढ़ने वाले पाठक भी नहीं मिल पाए। जो पाठक उनके पूरे सैद्धांतिक लेखन को पढ़ जाएगा वह उनका लोहा मान लेगा। उनकी पुस्तक ‘क्योंकि समय एक शब्द है’ छह सौ पृष्ठों से अधिक में लिखी गई है। पर यदि इसकी छह पुस्तकें मेघ जी बना पाए होते तो यह किताब अधिक पढ़ी गई होती और उनका अधिक मान-सम्मान और यशोगान हुआ होता। यहाँ उनकी भाषा सरल और लालित्य से भरी पड़ी है।

मेघ जी अपने ज्ञान से श्रोताओं को आतंकित कर देते थे। 1980 से लेकर 2000 तक का दो दशकों का यह काल ऐसा था। जिसमें संगोष्ठियों में मैं और मेघ जी साथ-साथ जाया करते थे। उन दिनों डॉ. बच्चन सिंह उन्हें ‘संगोष्ठियों का राजकुमार’ कहा करते थे। एक बार विक्रम विश्वविद्यालय में मिथक पर एक संगोष्ठी आयोजित हुई थी। यह तीन दिनों तक चली थी। प्रायः सभी विश्वविद्यालय के ज्ञानाचार्य आए हुए थे। उस संगोष्ठी के एक सत्र में डॉ. वागणेकर ने गुफाओं के भित्ति-चित्रों पर अपना व्याख्यान दिया था। वह व्याख्यान अत्यंत सम्मोहक ज्ञानवर्धक और प्रभावी था। उसमें तत्त्वों और तथ्यों का ऐसा सुमेल था कि श्रोता उस पुरातांत्रिक काल और स्थल से

॥स्मृत्यालोचन॥

बंधकर वशीभूत हो गए थे। इसके तत्काल बाद मेघ जी का व्याख्यान था। मंच से अपना नाम पुकारे जाने पर मेघ जी उठे, उड़े हुए। वह वहीं से बोले डॉ. वागणेकर के इस अद्भुत व्याख्यान में मैं इतना रमा हुआ हूँ कि इस व्याख्यान के बाद अभी मैं कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं हूँ। इसलिए मैं अपना आलेख-वाचन नहीं कर पाऊँगा। मुझे आप अभी इस अभिभूतावस्था में रहने दीजिए। सारा प्रशाल स्तब्ध था। वास्तविकता भी यही थी। यह था मेघ जी का निश्छल ज्ञान-गुणाग्राही व्यक्तित्व। ज्ञान जहाँ आलोक की कोटिशः किरणे विकीर्ण कर रहा हो उसको मुक्त कंठ सराहने वाला प्रगुणात्मक व्यक्ति। ज्ञान जहाँ भी हो, वह उन्हें मुग्ध करता था। उन्हें खींचता था उन्हें अपने पास बुलाता था। वह पढ़ते-पढ़ते या सुनते-सुनते अपने अंतर के राग से रचना के साथ जुड़ जाते थे और उनका मन कहने लगता था— “यूरेका-यूरेका”। मेघ जी के अतिरिक्त हिन्दी में इतना ज्ञान-विमुग्ध साहित्यकार मैंने अपने जीवन में किसी समकालीन वरिष्ठ या कनिष्ठ आलोचक को नहीं पाया।

मेघ जी का कोई शिविर नहीं था। नामवर जी का शिविर था। पर नामवर जी ज्ञान के संदर्भ में अंत-अंत तक पल्लवग्राही ही बने रहे। पर मेघ जी गोताखोर थे, वह ज्ञान-सरिता में पूरी डुबकियाँ लेते थे। उन्होंने जो भी लिखा वह अद्वितीय है। उसमें वाग्छल नहीं है। परमानंद श्रीवास्तव और रामस्वरूप चतुर्वेदी की तरह वह ऐसा कुछ नहीं कहते थे, जो दूसरे भी कह सकते थे। जो दूसरा नहीं कह सकता था, उसे केवल मेघ जी कह सकते थे उसे वही लिख सकते थे।

हिन्दी में रस सिद्धांत पर डॉ. नगेन्द्र और डॉ. निर्मला जैन ने किया क्या। नगेन्द्र ने रस से जुड़े हर अनुषंग पर विचार किया। मेघ जी ने रस पर भी अपनी

कलम चलाई। प्राचीन आचार्यों के साक्ष्य में उन्होंने रस को जाँचा और परखा है। भारतीय काव्यशास्त्र को समझने के लिए उन्होंने उसके हिन्दी भाष्य की अपेक्षा अंग्रेजी भाष्य को आधार बनाया। अंग्रेजी में उसका जो विवेचन हुआ है, उसके बाद ही उन्होंने हिन्दी में उसके किए गए विवेचन को देखा और यथायोग्य माना है।

रमेश कुंतल मेघ का आलोचक सार को ग्रहण करने वाला और उच्छिष्ट की उपेक्षा करने वाला रहा है। उनका चिंतन और लेखन मौलिक कोण से आरंभ होता और मौलिक प्रतिपादन से समाप्त होता है। चाहे वह सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हो या रचना की व्यावहारिक समीक्षा कर रहे हों, उनका मर्मग्राही हृदय उसके साथ सदैव जुड़ा रहता है। आई.ए. रिचर्डस की व्याख्या करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने ‘राम की शक्तिपूजा’ की इस दो पंक्तियों को याद किया है—

**“फिर देखी भीमा मूर्ति आज, रण देखी जो,
आच्छादित किए हुए सम्मुख समग्र नभ को।”**

मेरी दृष्टि से ये पंक्तियाँ रमेश कुंतल मेघ के आलोचकत्व पर भी पूरी तरह सार्थक सिद्ध होती हैं। आलोचना के क्षेत्र में मेघ जी ज्ञान की वैसी ही भीमामूर्ति बन जाते हैं। क्या सिद्धांत और क्या व्यवहार, क्या पाश्चात्य और क्या पौरस्त्य, क्या आधुनिकता और क्या भारतीयता; क्या सौंदर्यशास्त्र और क्या रस को अतव्याप्त करने वाला काव्यशास्त्र और क्या काव्यकृति की सर्जनात्मक अन्वेषण धर्मिता— उन्होंने आलोचना के दिग्दिगंत-व्यापी आकाश को अपनी विद्वता और सिद्धता से माप लिया था। ज्ञान के सागर में गोताखोर अवगाहन करने वाले रमेश कुंतल मेघ साहित्यानुरागी, साहित्यविद और साहित्य-सर्जक के हृदय में सदैव स्मरणीय बने रहेंगे।

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांसु’

‘साईकृपा’ 58, लाल एवेन्यू, डाकरघर - छहर्टा, अमृतसर

पिन - 143105 (पंजाब), मो. :9878647468

email:shitanshu.chashibhushan@yahoo.com

प्रो. रमेश कुंतल मेघ और मैं

- डॉ. कृष्ण कुमार

उत्तर प्रदेश के कानपुर जनपद में जन्मे प्रो. रमेश कुंतल मेघ (01.06.1931-02.09.2023) वरिष्ठ साहित्यकार एवं प्रसिद्ध समालोचक का मूल नाम रमेश प्रसाद था। हिंदी साहित्य का बृहत्तर मानस जिन चिंतकों एवं विचारकों ने संपन्न किया उनमें प्रो. मेघ का योगदान तथा नाम अत्यंत महत्वपूर्ण और बहुचर्चित रहा है। सौंदर्यशास्त्र एवं समाज मनोविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. मेघ लोकतांत्रिक तथा वाम समाजवादी मूल्यों से अनवरत संबद्ध रहे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अधीक्षण में पीएच.डी. की उपाधि अर्जित करने से तथा पीएच.डी. की मौखिकी के समय महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के सुझावों के फलस्वरूप साहित्य सृजन के लिए चिंतन एवं तत्जनित विश्लेषण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। यह महामंत्र प्रो. मेघ के साहित्य जीवन का गायत्री मन्त्र बन गया जिसका जाप उन्होंने आजीवन किया। प्रो. मेघ के कृतित्व-व्यक्तित्व एवं रचना संसार का सूक्ष्म अवलोकन बाद में करेंगे।

प्रो. मेघ से मेरी पहली मुलाकात 13 सितम्बर 2006 को "विशिष्ट अतिथि गृह लखनऊ" में तब हुई जब वह वर्ष 2004 के लिए "उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान" द्वारा प्रदत्त "लोहिया साहित्य सम्मान" को ग्रहण करने के लिए "पंचकुला" से लखनऊ पधारे थे और मैं यू.के. से वर्ष 2004 के लिए ही "प्रवासी भारतीय भूषण" सम्मान लेने के लिए उसी अतिथि गृह में टिका था। सम्मान राशि के रूप में उनको 2 लाख रुपए एवं मुझको 1 लाख रुपए भी प्रदान किए गए थे। यह सम्मान समारोह हिंदी दिवस के दिन 14 सितम्बर 2006 को संपन्न हुआ था। यद्यपि 13 सितम्बर को अतिथि गृह की कैटीन में महामानव सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" (21.02.1899 - 15.10.1961) के समान चुम्बकीय व्यक्तित्व धारक प्रो. मेघ को देखा

तो अवश्य था किन्तु इतना आकर्षित नहीं हो पाया था कि उनसे जा कर संवाद करता। महामानव का जन्म दिवस वसंत पंचमी के दिन मनाया जाता रहा है और मैंने उनके दर्शन भी इसी दिन 14 फरवरी 1959 को उनके निवास स्थान प्रयाग में किए थे। निराला जी हमारे प्रिय एवं पूजनीय कवि रहे हैं। शाम होते-होते उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष एवं भारत के चिरपरिचित गीतकार सोम ठाकुर जी का फोन आया और सलाह दी कि मैं प्रो. मेघ से उनके कमरे में जा कर मुलाकात कर लूं, कोई विशेष कारण नहीं बताया। अतिथि गृह के प्रथम तल के कारीडोर को पार कर मैंने प्रो. मेघ के दरवाजे पर दस्तक दी। गले लगाते हुए उन्होंने मेरा स्वागत किया और बैठने को कहा :

"हाँ! तो आप ही यू.के. निवासी डॉक्टर कृष्ण कुमार हैं जो भाषीय समन्वय की मशाल को लेकर घूम रहे हैं- लोगों में जागरूकता पैदा कर रहे हैं ताकि एक दिन भारत की एक संपर्क भाषा हो सके जो आपनी भारतीय भाषा ही हो। और जिसके माध्यम से देश आपस में संवाद कर सके, एक दूसरे को समझ सके।"

"जी! आभारी हूँ आपके स्वागत के लिए। मैं यह तो नहीं जानता किन्तु ऐसा एक स्वप्न ले कर बैठा हूँ और आपका आशीर्वाद चाहता हूँ। इसी को आधार बनाकर, जैसा कि सोम जी ने आपको बताया है, मैंने अपनी संस्था के माध्यम से सितम्बर 2005 में एक त्रिदिवसीय अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी (IMS-2005) का आयोजन बर्मिंघम यू.के. में किया था। और यह अभियान आप जैसे चिंतकों के आशीर्वाद से गति भी पकड़ रहा है। हाँ! एक बात और "राम मनोहर लोहिया साहित्य" के लिए आपको हार्दिक बधाई।"

"मेरे अनुज! धन्यवाद और तुमको भी बधाई "प्रवासी भारतीय भूषण सम्मान" के लिए। हाँ तो अपने

बारे में कुछ बताओ।”

“सर! आपकी तरह मैं न तो कोई भाषाविद हूँ और न हि हिंदी भाषा का ज्ञाता। मैं तो एक वैज्ञानिक हूँ जो भटकता हुआ हिंदी से प्रेम करने लगा और जुड़ गया हूँ।”

“भाई कृष्ण कुमार, मैं भी वैज्ञानिक बनते-बनते लोगों की निगाहों में, साहित्यकार बन गया और अब कुछ अन्य बन भी नहीं सकता।”

इस प्रकार बातों का सिलसिला चलता रहा और शाम के भोजन का समय भी हो गया। चलते-चलते प्रो. मेघ ने मुझे चंडीगढ़ आने का निमंत्रण भी दे डाला। सम्मान समारोह के उपरांत हम दोनों अपनी-अपनी राहों पर चले गए। यह रही हम दोनों की पहली नाटकीय मुलाकात सितम्बर 2006 की। हां एक बात और जो छूटी जा रही थी जिसका उल्लेख भी ज़रूरी है। प्रो. मेघ ने तृतीय प्रवासी भारतीय दिवस, 2005, के दौरान की एक घटना का चित्रण बड़े ही गर्व से किया और मेरी सोच की भूरि-भूरि सराहना करते हुए कहा कि जनवरी-फरवरी 2005 के तमाम राष्ट्रीय समाचार पत्रों में केवल आपकी ही चर्चा होती रही थी। संक्षेप में हुआ यह था कि समारोह के एक सत्र की अध्यक्षता सूचना तंत्र के विद्वान सैम पित्रोदा कर रहे थे जिसमें अधिकतर लोगों ने अपने विचार अंग्रेज़ी भाषा में रखे और समय सीमा का उल्लंघन भी करते गए थे। बीच में 2001 के लिए रेमन मैगसेसे सम्मान प्राप्त पर्यावरणविद डॉक्टर राजेन्द्र सिंह ने अपनी ही भाषा, हिंदी में अपने शोध के बारे में बताते हुए कुछ और अधिक समय के लिए अनुरोध किया। अंग्रेज़ी में उत्तर देते हुए अध्यक्ष महोदय ने समय देने से मना करते हुए उनसे अपने वक्तव्य को समाप्त करने के लिए कहा। **और सभागार में बैठे कुछ लोगों के अनुरोध पर अध्यक्ष महोदय ने राजेन्द्र जी के हिंदी में अपनी बात रखने के लिए सार्वजनिक रूप से क्षमा भी माँगी थी।** राजेन्द्र जी ने राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रयोग किया था। मैंने उठ कर पित्रोदा का विरोध किया और उन पर देश की भाषा तथा राष्ट्र का अपमान करने के लिए क्षमा मांगने

के लिए कहा। बात बढ़ती गई और इसके बारे में विभिन्न पत्रकारों ने भी खूब लिखा था।

सितम्बर 2005 में, बर्मिंघम यू.के. IMS 2005 के सफलता पूर्वक संपन्न हो जाने के बाद मैं संपर्क भाषा जागरूकता अभियान में लग गया था। इस श्रृंखला का पहला आयोजन दिसंबर 2005 में देहरादून के ओ.एन.जी.सी. के सभागार में डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र जी के सौजन्य से हुआ था जिसकी चर्चा अनेकानेक समाचारपत्रों, स्थानीय रेडियो स्टेशनों एवं दूरदर्शन के चैनलों पर हुई थी। इस विचार को लेकर मैं दक्षिण के चारों प्रांतों, महाराष्ट्र, गुजरात, दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश के कई शहरों में गया और जनमत बनाने के उद्देश्य से गोष्ठियां की। हरियाणा, पंजाब एवं हिमाचल प्रदेश में भी ऐसा करने की चाहत लेकर हरियाणा साहित्य अकादमी के निदेशक श्री राधेश्याम शर्मा एवं प्रो. मेघ से संपर्क किया। प्रो. मेघ ने तो 2006 में ही निमंत्रण दे दिया था। दोनों ने जनवरी 2007 का समय निर्धारित किया। 25 जनवरी की तिथि सबको मान्य हो गई। पंचकुला के “रेड बिशप” सभागार में 11 बजे प्रातः कार्यक्रम संपन्न होना तय किया गया। चंडीगढ़ के जाने-माने साहित्यकारों से सभागार भर गया था। जैसा कि चित्र 1 में दिखाया गया है कि सबसे पहले हरियाणा साहित्य अकादमी के निदेशक ने एक सुंदर सा शाल उद्धा कर मेरा सम्मान किया, प्रो. मेघ के साथ सबने तालियों की गड़गड़ाहट से इसका अनुमोदन किया। भाषा, समाज और राष्ट्र को केंद्र में रखते हुए मैंने संपर्क भाषा की आवश्यकता पर अपने विचार और अनुभव रखे। प्रश्नोत्तर सत्र के बाद प्रो. मेघ एवं दा-एक अन्य विद्वानों ने विचार रखे। निदेशक राधेश्याम शर्मा जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। चित्र 2 दर्शाता है कि मंच पर मेरे साथ मेघ जी भी मंचासीन हैं। कार्यक्रम के उपरांत मेघ जी के घर पर तमाम विषयों पर गंभीर चर्चाएं हुईं और बहुत कुछ सीखने और उनके कृतित्व को समझने का अवसर मिला।

प्रो. मेघ के कृतित्व एवं व्यक्तित्व तथा उन्हें मिले

॥स्मृत्यालोचन॥

अनेकानेक सम्मानों के बारे में बहुत लोगों ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है किन्तु मैं यहाँ एक विशिष्ट सम्मान के बारे में कुछ लिखना अवश्य चाहता हूँ और वह है "विश्व मिथक सरित्सागर" ग्रन्थ के लिए 2017 में साहित्य अकादमी पुरस्कार।

यह ग्रन्थ 2015 में प्रकाशित होते ही साहित्यिक

गलियारों में चर्चा का विषय रहा। वर्षों के अथक परिश्रम का परिणाम यह ग्रन्थ था जिसकी चर्चा मेघ जी ने 2007 की मुलाकात में अपने निवास स्थान पर मुझसे की थी। अब अंत में प्रो. मेघ की प्रमुख कृतियों का उल्लेख कर मैं अपने इस समर्पण की विराम देता हूँ।



प्रो. मेघ की प्रमुख कृतियाँ

मिथक और स्वप्न (2007)
कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका (1967)
तुलसी : आधुनिक वातायन से (1967)
आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (1969)
मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध (1969)
क्योंकि समय एक शब्द है (1975)
कला शास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी क्रांतियाँ (1975)
सौन्दर्य-मूल्य और मूल्यांकन (1975)
अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा (1977)
साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक (1980)
वाग्मी हो लो! (1984)
मन खंजन किनके ? (1985)

कामायनी पर नई किताब (1995)
खिड़कियों पर आकाशदीप (2002)
विश्व मिथक सरित्सागर (2015)
शील और सौंदर्य (2007)
मिथक से आधुनिकता तक (2008)
मानव देह और हमारी भाषाएँ (2015)
आलोचितना को होने दो केंद्र अपसारी (2018)
आपकी खातिर मुनासिब कार्यवाहियाँ (2018)
हमारे लक्ष्य : लाने हैं लीला कमल (2013)
काँपती लौ (2008)
समाज-संस्कृति तथा समाज-विज्ञान से समेकित साहित्य

21, बिडफर्ड ड्राइव, सेली ओक, बर्मिंघम
बी29 6क्यू जी (यू.के.), दूरभाष : 00441214725464

मेरे हिस्से के डॉ. मेघ

- अनूप सेठी

शायद हम सबको ही बचपन में सारे लोग बड़े-बड़े दिखते हैं। हमसे लंबे, ऊंचे, ताकतवर, समझदार। बच्चे अपने से हर तरह से बड़े व्यक्तियों पर निर्भर करते हैं। उनके आभामंडल के अंदर रहते हैं। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं वे बड़ों से आँख मिलाकर बात करना सीख जाते हैं। एक तरह की बराबरी में आ जाते हैं। मैं खुद के लिए हैरान होता हूँ कि अपने से बड़ों के सामने मैं कभी बराबरी पर नहीं आ पाया। हर कोई, जो किसी भी तरह से बड़ा या वरिष्ठ था, वह उसी पायदान पर रहा। माता-पिता और गुरुजनों के प्रति तो खैर आदर भाव के कारण ऐसा रहा हो सकता है। इस भाव में यूँ तो आनंद ही आनंद है, लेकिन जब हम एक व्यक्ति के तौर पर दूसरे व्यक्ति को देखते हैं तो वह विनम्रता का भाव दूसरे व्यक्ति को और उसके व्यक्तित्व को बेलाग होकर नहीं देखने देता।

प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ के प्रति भी मेरा ऐसा ही भाव रहा। मेघ जी ही क्यों, उनसे परिचित कराने वाले प्रोफेसर ओम अवस्थी के प्रति भी वैसा ही भाव रहा। इन लोगों की शख्सियत ताउम्र बड़ी ही बनी रही। उनके सामने कोई बात ताल ठोक कर रखने की हिम्मत कभी नहीं जुट पाई। गुण-दोष हर व्यक्ति में होते हैं पर इनका गुण-दोष विवेचन मुझसे संभव नहीं हो पाया। दूसरी बात यह भी, जो शायद इसी से जुड़ी हो कि हम हमेशा रिसीविंग एंड पर रहे, ग्रहण करने वाले, चाहे उनका ज्ञान हो, उनका अनुभव हो या उनका स्नेह हो।

स्नेह वाला तंतु बहुत महीन, स्थिर, स्थाई और पक्का है। उसने हमेशा बाँधे रखा। मेघ जी हों, अवस्थी जी हों या प्यारे रमेश रवि हों, स्नेह का रस-सिंचन सदैव होता रहा। मेघ जी की जो भी छवियाँ मन में बसी हैं, वे ऐसी ही स्नेहसिक्त हैं। इस संबंध में दो चीजें जुड़ी हुई हैं— व्यक्तित्व का बड़ापन और दूसरी

तरफ स्नेहपूर्ण स्पर्श। अपना बड़ापन या महानता उन्होंने नहीं दिखाई। वह लार्जर दैन लाइफ छवि हमने खुद बनाई। इसकी वजह शायद उनकी विद्वता और अकादमिक जगत में उनके काम की विविधता और अपने काम के प्रति उनका समर्पण भाव रहा हो।

मैं गुरु नानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर में एम.फिल. करने 1980 में आया था। अमृतसर आने का संयोग ही बना था। मैंने एम.ए. तक की पढ़ाई हिमाचल प्रदेश के अपने शहर धर्मशाला से की। कॉलेज में हिंदी के एक प्रोफेसर ओम अवस्थी थे। उन्होंने मुझे कॉलेज की नाटक मंडली में शामिल कर लिया। उनके सान्निध्य में कविता, नाटक, साहित्य रचना का सिलसिला चल पड़ा। इस कॉलेज में एम.ए. हिंदी शुरू हुआ। पिता जी की मर्जी के खिलाफ वहीं हिंदी में एम.ए. करना शुरू कर दिया। तब तक ओम अवस्थी धर्मशाला के कॉलेज को छोड़कर अमृतसर के गुरु नानक देव विश्वविद्यालय में चले गए थे। हमारे यहाँ के लोग आगे की पढ़ाई के लिए प्रायः शिमला जाते थे। अवस्थी जी की वजह से मैंने एम.फिल. के लिए अमृतसर का रुख किया। अमृतसर के हिंदी विभाग में उस समय रमेश कुंतल मेघ अध्यक्ष थे। लंबा-चौड़ा डील-डौल, लंबे केश, ऊँचा माथा, तेजस्वी व्यक्तित्व। तब तक मैंने उन्हें पढ़ा नहीं था, केवल उनकी महिमा सुन रखी थी। पूरे विश्व विद्यालय में उनका जलवा भी था। हिंदी माध्यम से पढ़कर आने वाले मेरे जैसे छात्र इसी बात से चमत्कृत हो जाते थे कि डॉक्टर मेघ अंग्रेजी में भी भाषण देते हैं।

तब तक मुझे साहित्य पढ़ने की लत लग चुकी थी। नाटक करता था, कविता लिखता था। ओम अवस्थी जी का लाड़ मिलता ही था। डॉक्टर मेघ के भी प्रिय छात्रों में मैं आसानी से शामिल हो गया। उन दिनों यह लाड़ और प्रेम केवल विभाग तक सीमित

नहीं रहता था। अध्यापक छात्र के संबंध पारिवारिक हो जाते थे। एम.फिल. में वैसे भी छात्र कम होते हैं। रिश्तों में अपनापन आसानी से आ जाता है। यूँ विभाग के सभी प्रोफेसरों (डॉक्टर शीतांशु, राजपाल, जयप्रकाश, हरमहेंद्र सिंह बेदी) से मेरा रिश्ता अच्छा था। लेकिन, पहले अवस्थी जी और फिर मेघ जी से निकटता ज्यादा रही।

छात्र होने के नाते हमें लगता है हमारे प्रोफेसर हमारे ही सबसे ज्यादा नजदीक हैं। पर उनके तो हर साल नए छात्र आते हैं। उनका स्नेह हर एक छात्र को मिलता ही होगा। यह तो है नहीं कि मैं या हमारा बैच आखिरी था। हमसे बाद वाले छात्र भी तो उन्हें उतने ही प्यारे रहे होंगे। इसलिए यह हमारे हिस्से के गुरुओं की महिमा है। खैर! हमारे हिस्से जो स्नेह आया वह हमारा है और भूरपूर है।

अमृतसर में मेघ जी को बड़ा सा बंगला मिला था। हॉस्टल में रहते हुए अक्सर उनके घर जाना होता था। भाभी जी (श्रीमती मेघ यानी मनोरमा मेघ यह नाम तो बहुत बाद में पता चला) गुरु माता की तरह बहुत स्नेह देती थीं। खिलाती-पिलाती थीं। अजवाइन के छोंक वाली सूखी घुड़ियाँ की सब्जी का स्वाद अब तक याद है। उनके घर का दालान और किचन गार्डन बहुत सुंदर था। ड्राइंग रूम के बाहर गलियारे में कुछ कुर्सियाँ रखी रहती थीं। डॉक्टर साहब की स्टडी पहली मंजिल पर थी, किताबों से भरी हुई। वहाँ जाने की अनुमति नहीं थी। फिर भी मैं एक आध बार वहाँ झाँक आया हूँ। छोटे शहरों में त्योहारों पर पारिवारिक मिलन हुआ करता था। एक बार होली में हम कई लोग (पीएच.डी., एम.फिल. के छात्र और कुछ प्रोफेसर) झुंड के झुंड मेघ जी के बंगले पर जा पहुँचे थे।

ओम अवस्थी जी हमें धर्मशाला कॉलेज के वक्त से ही नाटक की प्रतियोगिताओं में अमृतसर, लुधियाना, चंडीगढ़ आदि ले जाते थे। अमृतसर का रोटरी क्लब सालाना नाट्य प्रतियोगिता करवाता था। मैंने अपने एक मित्र के साथ वहाँ एक नाटक किया। डॉक्टर मेघ

जी ने भी वह देखा। विभाग में यह धारणा बन गई थी कि नाटक मेरा विषय है। अवस्थी जी नाटक पढ़ाते थे तो एम.फिल. का शोध मैं उनके साथ ही करूँगा, यह अपने आप ही जैसे तय हो गया। मैं भी खुश था। नाटक के लिए अति उत्साही रहता ही था। हिंदी के विसंगतिमूलक नाटकों पर मन लगाकर काम किया। उसका परिणाम यह हुआ कि विभाग में जब एक लीव वैकेंसी निकली तो डॉक्टर मेघ ने उसके लिए मेरा चयन कर लिया। एक सेमेस्टर तक मैंने पढ़ाया, वह भी एम.ए. की कक्षाओं को। कई घंटे पुस्तकालय में बैठकर तैयारी करता, नोट्स लेता और अगले दिन पढ़ाता। मेघ जी की “क्योंकि समय एक शब्द है” पुस्तक में कई पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। वह कृति को समझने के लिए ग्राफ बनाते हैं। मैं भी देखा-देखी ब्लैकबोर्ड पर कहानी, उसके चरित्रों, शिल्प या निबंध की विचार शृंखला को ग्राफ बनाकर समझाने की कोशिश करता। कई बार छात्रों के किसी प्रश्न पर फँस भी जाता। तब मैं हाथ खड़े कर देता और कहता, कल पढ़कर आऊँगा तब बताऊँगा। यह बातें मेघ जी तक भी जरूर पहुँचती ही होंगी।

इस बीच मेरा चयन आकाशवाणी में कार्यक्रम निष्पादक के पद पर हो गया। इस खबर से डॉक्टर साहब मेरी तरफ से मुक्त हो गए। प्रोफेसरों को अपने ऊपर दायित्व का अनुभव होता है कि वे अपने छात्रों को कहीं सेटल करवा दें। मेरे लिए उन्हें यह सब नहीं करना पड़ा। हालांकि, मेरी पहली पसंद अध्यापन ही था। पर मैं पीएच.डी. तक इंतजार करने की स्थिति में नहीं था। और पीएच.डी. के बाद भी अध्यापन आसानी से मिल जाएगा यह तय नहीं था। इसलिए आकाशवाणी की नौकरी स्वीकार कर ली। यूँ भी लगता था कि यह रचनात्मक क्षेत्र ही है। नौकरी के लिए 1983 में मुंबई आ गया। विभाग छोड़ने के बाद भी मेघ जी से संपर्क हमेशा बना रहा।

पीएच.डी. करने की स्थिति भले ही न रही हो, लेकिन इच्छा तो होती ही थी। इसलिए एक बार मैंने डॉक्टर साहब से कहा कि मुझे अपने अधीन ले लीजिए।

वे तैयार नहीं हुए। कहने लगे, तुम नाटक पर ही करो अवस्थी जी के साथ। मैं मेघ जी का छात्र होना चाहता था। बहुत चिरौरी करने पर उन्होंने विषय दिया- ‘हिन्दी कविता में ग्राटेस्क तत्व’। यह विषय मुझे बिलकुल पसंद नहीं आया। एब्सर्ड नाटकों पर काम कर चुका था। उससे आगे बढ़ने की इच्छा नहीं थी। मुझे लगा उन्होंने मुझे टालने के लिए ही यह विषय सुझाया है।

नौकरी लग गई तो वहाँ पीएच.डी. की बाध्यता नहीं थी। तब तक मैं भी शोध प्रविधि की यांत्रिकता को समझने लगा था इसलिए डॉक्टर नहीं बना। अमृतसर से हजारों मील दूर रहते हुए भी अपने कुछ सहपाठियों, वरिष्ठ छात्रों, अवस्थी जी और मेघ जी से संपर्क बना रहा। मेघ जी पत्राचार में बहुत तत्पर थे। पत्र का उत्तर तुरंत देते थे और पत्र न मिले तो नियमित अंतराल पर खोज खबर लेते रहते थे। चिट्ठियों में वे परस्पर परिचित व्यक्तियों, विभागीय गतिविधियों की खबर देते रहते थे। कई बार कई लोगों और प्रसंगों पर उनके व्यंग्यबाण भी पढ़ने को मिल जाते थे। मेरी कोई रचना कहीं उन्हें दिख जाती तो चिट्ठी में जिक्र जरूर करते।

सुमनिका ने पीएच.डी. उनके निर्देशन में की थी। हमारी शादी के बाद उसे भी आकाशवाणी में पोस्टिंग मिल गई पर उसका मन पढ़ाने में ज्यादा था। डॉक्टर मेघ उसके लिए चिंतातुर रहते। वह कॉलेज में पढ़ाने लग गई तो उसके शोध प्रबंध के प्रकाशन की जिम्मेदारी मानो उन्हीं ने ले ली। उनकी लगभग हर चिट्ठी में इस बावत हिदायतें लिखी होतीं। जब उसने मुंबई की कान्हेरी गुफाओं पर काम किया तो वे बहुत प्रसन्न हुए। नए सिरे से प्रकाशकों को ढूँढ़ने लगे। उन्हीं के प्रताप से उसकी एक पुस्तक राधाकृष्ण से और दूसरी वाणी से छपी।

डॉ. मेघ सेमिनारों या साक्षात्कारों के सिलसिले में कई जगह आते-जाते थे। मुंबई भी उनका आना-जाना होता रहता था। वे यहाँ के विभागाध्यक्ष डॉक्टर बांदीबडेकर के बहुत करीब थे। वे जब भी मुंबई आए

मुलाकात होती ही थी। बाज़ दफा वे हमारे पास ही ठहरते। शुरु में जब मैं मुंबई में अकेला था, तो वह ढूँढ़-ढूँढ़ कर विविध भारती के दफ्तर पहुँच गए थे। जब वे आए तो मैं गदगद हो गया। मैंने खुद को सम्मानित भी महसूस किया। विविध भारती वालों को हैरान देखकर मैं और भी ऊँचे पायदान पर चढ़ गया।

रिटायरमेंट से थोड़ा पहले एक स्कूटर दुर्घटना में वे गंभीर रूप से घायल हो गए थे। लंबे उपचार के बाद भी उनकी एक टांग पूरी तरह मुड़ नहीं पाती थी। अमृतसर में उन्हें अकेलापन लगने लगा था, इसलिए लखनऊ में घर बनवाया कि वहाँ रहेंगे। एक बार मैं उस घर में गया हूँ। अत्यंत सुरुचिपूर्ण आशियाना। सौंदर्य शास्त्र के चिंतक ने अपने घर को मूर्तियों से सजा रखा था। वे कुछ समय लखनऊ विश्वविद्यालय में गेस्ट फैकल्टी भी रहे। वहीं रहते उन्होंने कामायनी पर दूसरी किताब लिखी। पर लखनऊ में उनका मन नहीं लगा। उत्तर प्रदेश के जातिवाद से वे परेशान थे। सब बेच-बाच कर चंडीगढ़ पंचकूला आ गए। वही चंडीगढ़ जहाँ वे कभी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लाए थे। अब यहाँ उनके कुछ पुराने साथी थे, दो बेटियाँ थीं और थी पंजाब की खुली हवा।

एक बार किसी सेमिनार के सिलसिले में डॉ. मेघ और सूर्यप्रसाद दीक्षित मुंबई आए। हम तब जुहू में आई.डी.बी.आई. के फ्लैट में रहते थे। हमारी बेटी अभी दो साल की नहीं हुई थी। वह बार-बार उन दोनों बुजुर्गों के पास जाकर अपने कुछ खिलौने दिखाती रही। घर में फूल रखे थे। वह उन दोनों के सिर पर पुष्प वृष्टि करती रही। डॉक्टर मेघ उसकी इस बाल लीला से गदगद होते रहे। अब भी उस दृश्य को हम कई बार याद करते हैं। तब से डॉक्टर साहब अपनी हर चिट्ठी में बेटी को आशीर्वाद देना नहीं भूले।

उन्हें जब भी मुंबई आना होता, अपनी योजनाएँ पहले ही बनाना शुरू कर देते। एक बार आए तो नेहरू तारांगण में हमें भी ले गए। वहाँ सौरमंडल की जितनी जानकारी दीवारों पर अंकित थी या अलग-अलग तरह से प्रदर्शित की गई थी, वे उसे बेहद तेज गति

॥स्मृत्यालोचन॥

से नोट करते गए। वहाँ पर हमने प्लैनीटोरियम का एक शो भी देखा। फिर एक बार किसी सेमिनार में आए तो उन्होंने एलीफेंटा गुफाओं में जाने की ठान कर रखी थी। हम चिंतित थे कि वे लंगड़ाते हुए करीब दो सौ सीढ़ियाँ कैसे चढ़ेंगे। लेकिन, वह तो ठान चुके थे। लंबी यात्रा यानी जुहू से गेटवे ऑफ इंडिया एक घंटा सड़क से, फिर गेटवे से घारापुरी टापू तक मोटर वोट यानी फेरी से एक घंटा, और फिर करीब दो सौ सीढ़ियाँ चढ़ने में जितना समय आपको लगे। यह एक तरफ की दूरी है और इतना ही वापस लौटना। आसान तो नहीं था, लेकिन उन्होंने यह यात्रा की। बड़ी संलग्नता से उन्होंने चित्र खींचे। अपना कैमरा साथ लाए थे। तब श्वेत या रंगीन फिल्म डालकर फोटो खींचे जाते थे और स्टूडियो में फिल्म धुलवा कर फोटो तैयार करवाए जाते थे। दुर्भाग्य से उनकी फिल्म एक्सपोज हो गई। एक भी चित्र नहीं मिला। वे बहुत निराश हुए। मेरे खींचे हुए उनके यादगार चित्र बचे रहे। उनमें से एक बनास के मेघ अंक और अब मेघ सौंदर्य दर्शन पुस्तक में छपा है।

एक बार वह एक सेमिनार के सिलसिले में आए तो यूनिवर्सिटी के कलीना कैम्पस के गेस्ट हाउस में ही रुके। यह शायद 2012 की बात है। मेरे साथ रमेश राजहंस, हृदयेश मयंक और शैलेश सिंह थे। हम लोगों ने करीब डेढ़ घंटे की बातचीत रिकॉर्ड की।

मैं उनके बचपन के बारे में जानना चाहता था। कुरेद-कुरेद कर हमने कई कुछ जाना। यह बातचीत भी इस पुस्तक में प्रकाशित है।

डॉ. मेघ खुद तो एक के बाद एक काम में लगे रहते थे, हम दोनों से भी अपेक्षा करते थे कि हम निरंतर काम करें। खासकर सुमनिका से उनकी बहुत अपेक्षाएँ थीं। हमारे समकालीन छात्रों नीलम और जगदीश से भी अपेक्षा करते थे। इन तीनों को वे सौंदर्यबोध शास्त्र का त्रिक कहते थे। हालांकि, हम बहुत बाद के छात्र थे। उनके पुराने छात्र नाटककार नरेंद्र मोहन और गंगा प्रसाद विमल जैसे रचनाकार रहे हैं।

मेघ जी बार-बार याद दिलाते थे कि वह प्रांत, प्रादेशिकता, धर्म, भाषा के ऊपर हैं। विचारधारा के तौर पर उन्होंने मार्क्सवाद को कभी नहीं छोड़ा। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनुशासनों के साथ-साथ उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा का भी अवहागन किया। बातचीत में मैंने उनसे पूछा था कि डॉक्टर साहब यह कैसे हो गया कि आपकी मार्क्सवाद में इतनी दृढ़ आस्था है लेकिन आपके छात्र वैसे नहीं निकले। उन्होंने स्वीकार किया और उसका कारण यह बताया कि मैंने उन्हें इनडॉक्ट्रीनेट नहीं किया। यानी उन्होंने अपने छात्रों को अपने हिसाब से पुष्पित पल्लवित होने की छूट दी। एक अध्यापक से और क्या चाहिए।

9820696684

anupsethi@gmail.com

बी-1403, क्षितिज, ग्रेट ईस्टर्न लिंक्स, राम मंदिर रोड,
गोरेगांव (पश्चिम), मुंबई - 400104

रमेश कुंतल मेघ से एक मुलाकात

– हरेन्द्रसिंह भदौरिया
(जिन्दगीनामा)



लेखक के साथ रमेश कुंतल मेघ

प्रश्न : एक आम पाठक आपकी भाषा की दुरुहता के थपेड़ों से तमतमा उठता है। आप अपनी भाषा की क्लिष्टता पर क्या कहना चाहेंगे ?

रमेश कुंतल मेघ : अक्सर मेरे ऊपर यह नागफनी सवाल उछाला जाता है कि मेरी किताबें एक तो भारी-भरकम होती हैं और दूसरी उनकी भाषा क्लिष्ट होती है। इसी बात को दो तरह से कहूँगा जो एक चुटकुला रूसी हास्य व्यंग लेखक गोगोल के बारे में प्रचलित था कि— कम्पोजीटर उनकी रचनाएं कम्पोज करते समय हंसते रहते थे। उसे गंगा प्रसाद विमल ने मेरे ऊपर चिप्पी करते हुए यह तुकलक फैलाया कि प्रेस मालिक जब किसी कंपोजीटर को सजा देना चाहते हैं तो कहते हैं कि बस इसे रमेश कुंतल मेघ की किताब के पन्ने कम्पोज करने को दे दो। बिल्कुल दुरस्त हो जायेगा अर्थात् वे इतनी कठिन भाषा में लिखे गये पन्ने होते हैं कि बेचारा मिडिल पास कंपोजीटर ढेर हो जाये। दूसरा चुटकुला मेरे गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का था कि “कुंतल की गुरु गंभीर हिन्दी पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद कर दिया जाए तो वे प्रवर्तक सिद्ध हो सकती है।” उनका तात्पर्य गुंफित विचार पुंजों के पारिभाषिक शब्दों के टूंसने से था।

भला मैं क्या करूँ ? सर्जनात्मक भाषा पर ऐसी नजर नहीं लग सकती क्योंकि वस्तुतः वह विवरण तथा अनुभवन की भाषा है। उसमें परिभाषिकों के बिच्छू तथा विभिन्न ज्ञान क्षेत्रों की कंटीली झाड़ियां नहीं हैं। किन्तु जब मैं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों के तर्क तथा चिंतन की भाषा में अभिव्यक्ति करना चाहता हूँ तो विवरणात्मक, आवेगात्मक भाषा निरर्थक सी हो जाती है। सृजनात्मक तथा दार्शनिक भाषा, दोनों ही मनुष्य की उदात्त लीलाएं हैं। इन दोनों में से कोई भी श्रेष्ठतर या हीनतर नहीं है। सवाल चुना का है।

सवाल अपनी बौद्धिक क्षमता का है। (प्रतिभा शब्द इस्तेमाल करने की हिम्मत नहीं हो रही है क्योंकि इसपर महाकवियों तथा कविराजों की ही तानाशाही है)। बहुविध ज्ञान के लिए पाठक को भी कहीं उठना ही पड़ता है। बेचारे मेरे पाठक या तो हैं नहीं, या हैं तो प्रथम कंपोजीटर है, दूसरे शोधार्थी (मुसीबत मेरी है। आफर उनकी है। क्या करूँ ? मुझे भवभूति की भाषा में एक पाठक का इंतजार करना ही होगा।

9452530645

जे-85, विजयनगर, कानपुर, उ.प्र. - 208005

हरभजन सिंह मेहरोत्रा (9839101647)

390/3, शास्त्रीनगर, कानपुर, उ.प्र. - 208005

डॉ. रमेश कुंतल मेघ और उनका आलोचना साहित्य

- डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता

डॉ. रमेश कुंतल ने सौंदर्य शास्त्र को सौन्दर्यबोध शास्त्र कहते हुए सौन्दर्य, उसके तात्त्विक पक्ष तथा उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं पर गंभीरता से विचार किया है। उन्होंने सौन्दर्यबोध को स्पष्ट करने के लिए भारतीय साहित्य शास्त्र के रस-सिद्धांत से लेकर आदिकालीन नाथ सिद्ध साहित्य, छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी साहित्य का नये दृष्टिकोण के साथ विवेचन किया है। सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना में आलोचक के समक्ष आने वाली प्रथम समस्या डॉ. मेघ की दृष्टि में भाषा की समस्या आयी। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की शब्दावली से अर्थ ग्रहण करते हुए बहुत सारे नए शब्द ग्रहण किये। शान्त, सौम्य व्यक्तित्व के स्वामी डॉ. रमेश कुंतल मेघ व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त कोमल एवं मृदु हैं। परन्तु उनका आलोचक रूप जो उनकी आलोचना में शब्दबद्ध होकर आया है, दुरुह, गूढ़ एवं क्लिष्ट है। यद्यपि उन्होंने व्यावहारिक जीवन से उदाहरण ग्रहण करते हुए उसे सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने सौन्दर्यबोध शास्त्र की सीमा का विस्तार किया है। आज सौन्दर्य शास्त्र के अंतर्गत असुंदर आतंकपूर्ण, कुत्सित प्रशांत, उदात्त और विकराल भाव संवेगों का सामंजस्य हो गया है। आज सौंदर्यशास्त्र राजनैतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक पक्षों को भी आत्मसात कर चुका है। अपनी प्रसिद्ध कृति "अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा" में रमेश कुन्तल मेघ ने सौन्दर्य के विविध पत्रों पर नवदृष्टि डालने का प्रयास किया है। उन्होंने साहित्य में सौन्दर्यबोध के समय सर्वप्रथम जन्म लेने वाली जिज्ञासा के रूप में कला के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

कला के मूल तत्वों के सम्बन्ध में रमेश कुंतल मेघ जी ने निष्कर्ष देते हुए कला को कौशल और क्रिया

व्यापार माना, इसके अंतर्गत व्यष्टि एवं समाष्टि दोनों का क्रिया व्यापार है। सौन्दर्य की सम्पूर्ण व्याख्या कर पाने में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख मेघ जी भी करते हैं। वह सौन्दर्य को गुणात्मक मूल्य और प्रकृत मानते हैं। सौन्दर्य कला और प्रकृति दोनों के गुणों से युक्त है।

रमेश कुंतल मेघ सर्वप्रथम सौन्दर्य की स्थिति पर विचार करते हैं और सौंदर्य के विषय में अपना मत देते हैं कि कला की तरह सौंदर्य को भी धुंधली सीमाओं से घेरने के अलावा इसका पूरा विवरण नहीं दिया जा सकता। परन्तु मेघ जी ने सौंदर्य की सत्ता को समझने के लिए विभिन्न दृष्टिकोण से प्रयास किया है। वह सर्वप्रथम सौंदर्य के आत्मगत स्वरूप पर विचार करते हैं। प्रायः देखा गया है कि कोई वस्तु किसी को अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक लगती है पर दूसरे को नहीं लगती और कभी-कभी स्वयं हमारा ही दृष्टिकोण सौंदर्य को लेकर बदलता रहता है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य का आत्मगत स्वरूप सामने आता है। यद्यपि यह तथ्य कुछ हद तक सही है पर मेघ जी का विचार है कि वस्तु के प्रति आकर्षण या सौंदर्य को आत्मगत मान लेने पर कुछ सीमाएं सामने आती हैं सौंदर्य के प्रति हमारी मनोदशा इतनी चंचल क्यों होती है? क्यों किसी विशेष वस्तु के बिना हम सौंदर्य नहीं पाते? यह आत्मगत दृष्टिकोण की कमियाँ हैं।

सौंदर्य बोध की दशा में आने वाले परिवर्तन का कारण कतिपय वस्तु का ध्यान योग किया जाना है, उस दशा में वस्तु सौंदर्य का अभिधान करती है। सौंदर्य मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व पर आधारित है। मेघ जी का विचार है कि सौंदर्य को आत्मसात मानने से उठने वाली समस्याओं का कुछ हद तक समाधान उसे वस्तुगत मान लेने में है। वस्तु मनुष्य से

पृथक होकर भी अस्तित्वमान रह सकती है। वस्तु सुंदर है हम नहीं। इसीलिये किसी सुन्दर वस्तु को देखने पर हम स्वयं को सुंदर नहीं समझने लगते हैं। मेघ सौंदर्य को पूर्णतः वस्तुगत मानने के पक्ष में भी नहीं हैं। उनका विचार है कि ऐसा मान लेने से सौंदर्य का सामाजिक चरित्र नष्ट हो जायेगा। सौंदर्य का आत्मगत स्वरूप विलुप्त हो जायेगा। सौन्दर्य केवल रूप अथवा प्लेटो या विकिलमेन केबेल या फ्राई के विशुद्ध रूप अथवा वामन की रीति तक ही सीमित हो जायेगा।¹ सौंदर्य में विपरीतों का सामंजस्य हो ही नहीं सकेगा।

तीसरी स्थिति में रमेश कुंतल मेघ सौंदर्य को आत्मगत एवं वस्तुगत के समन्वित रूप में देखते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम वस्तु में सौंदर्य-आशंसक व्यक्ति की सृजनात्मक भूमिका को ही महत्व देते हैं, क्योंकि वस्तु हूबहू अनुकृति न होकर पुनर्सृजन है। जब हम गांधार देश से आयी नील मेषों के चर्म पहने कामायनी की श्रद्धा के चित्र या वर्णन की वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो वह स्वयं श्रद्धा का बिम्ब होती है। हमारे इस प्रत्यक्षीकरण में हमारी अभिरुचियाँ तथा अनुभव आशंसा के क्षणों में हमारी मनःस्थिति और हमारी दार्शनिक दृष्टियों अर्थात् आत्मगत दशा पर पूरा प्रभाव डालती है। यह प्रभाव वस्तु की बहिर्गत दशा से भी नियंत्रित होता है।²

मेघ जी वस्तु की बाह्य दशा में वस्तु और आशंसक के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम स्थापित होना स्वीकार करते हैं। इसे अवस्था कहते हैं। अवस्था वस्तु के प्रति मनुष्य का प्रतिबोध उदीप्त करती है। परिणामस्वरूप मूल प्रवृत्ति अपने आरंभिक रूप से बदल जाती है। यह अवस्था प्रतिबोध को या तो मार्क्स की परिभाषा में रूपांतरित कर देती है या पावलोव की परिभाषा में अनुकूलन या फिर फ्रायड की परिभाषा में दमित अथवा उदात्तीकृत करती है। अवस्था किसी न किसी रूप में हमारे प्रतिबोध को सामान्य से विशिष्ट में परिवर्तित कर देती है। सौंदर्य के विविध पक्षों पर विचार करने के पश्चात् रमेश कुंतल मेघ इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि सौंदर्य का अस्तित्व मानव समाज से अलग होकर नहीं है। प्रकृति सौंदर्य भी सामाजिक उपज है।³

कलाओं का वर्गीकरण :

भारतीय कलाओं का वर्गीकरण करते हुए डॉ. मेघ ने वात्स्यायन की चौंसठ कलाओं का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। कलाओं के वर्गीकरण में आज की सम्पूर्ण जीवन प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए डॉ. मेघ इस बात को स्वीकार करते हैं कि आज के जटिल जीवन में ललित कला तथा उपयोगी कला जैसा वर्गीकरण अधिक संगत नहीं रहा है।⁴ ललित विस्तार, कामसूत्र तथा शुक्र नीति जैसे ग्रंथों का वर्गीकरण तथा पाश्चात्य मनीषियों द्वारा किये गए वर्गीकरण पर विचार करने के उपरांत रमेश कुंतल मेघ अपनी ओर से कलाओं के अनेक आधार प्रस्तुत करते हैं।

कलाकार एवं कला के प्रशंसक को स्पष्ट करते हुए मेघ जी ने "अथातो सौंदर्य जिज्ञासा" में बताया कि कला की सर्जना करने वाला कलाकार तथा कला में तन्मय होकर आनंद लेने वाला सहृदय होता है। आत्माभिव्यक्ति की दशा कवि कर्म कहलाती है। बौद्धिक धरातल पर की जाने वाली रचना कारीगरी है। डॉ. मेघ ने कलाकार, आशंसक, सृजन प्रक्रिया और सर्जनात्मक कृत्य अभिव्यंजना, संप्रेषणता, सौन्दर्यतात्विक वृत्ति और सौंदर्यबोधानुभव तथा संस्कृति मनुष्य और साहित्य आदि विषयों पर अपना विचार व्यक्त किया है। कलाकार तथा आशंसक के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए मेघ जी लिखते हैं कि- कलाकार वह व्यक्ति है, जो इस कार्यिकी को क्रियान्वित करता है, तथा आशंसक वह व्यक्ति है, जो क्रियान्वित कार्यिकी अर्थात् माध्यम से प्रस्तुत कलाकृति से ताल्लुक रखता है। कलाकार पहले बहिर्जगत के प्रत्यक्षों और अंतर्लोको के स्मरणों तथा अनुभवों का ध्यान योग करता है। सृजन के क्षणों में जब उसे चुनौती देता है, यंत्रणा देता है, निमंत्रण देता है, सुख देता है तब वह ध्यान योगावस्था में न होकर उद्वेलित दशा में होता है। कलाकृति के निर्माण के पश्चात् जब वह पुनश्च

ध्यान योग करता है तब वह आशंसक या भावन धर्म निबाहता है। इसकी तुलना में आशंसक कृति के माध्यम से भावों को मूर्तित करने की पीड़ा से वंचित रह जाता है। वह कलाकृति के माध्यम से कलाकार के साहचर्यों और इस बहाने से अपने साहचर्यों का भी आह्वान-प्रत्याह्वान करता है। इसीलिये कवि की अपेक्षा आशंसक को अधिक सारमत्ता मिलती है।⁵

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सृजन प्रक्रिया सम्बन्धी दृष्टिकोण को उद्घाटित किया है। जहाँ मस्तिष्क को एक उत्पादक मशीन एवं कला को उत्पादन पदार्थ माना गया है। समाज से मिलने वाले अनुभव, घटनाएँ इत्यादि पदार्थ जो मस्तिष्क के एक भाग में एकत्रित होती रहती है, फिर वही कच्चा माल तरलीकृत होकर कला के रूप में आकार लेता है। नई सोच के अनुसार सृजन प्रक्रिया को विज्ञान प्रक्रिया के समान सिद्ध किया गया है, इसमें अवचेतन मन सक्रिय रूप से क्रियाशील रहता है। कलाकार और कलाकृति एक दूसरे के पूरक हैं। सर्जक कलाकार हो अथवा दार्शनिक कृतित्व के द्वारा अपने चित्तिमूलक जीवन के रचना गठन या संरचना का निर्माण करता है।⁶

सौंदर्यतात्विक वृत्ति तथा सौंदर्यबोधानुभव पर विचार करते हुए डॉ. मेघ ने भरतमुनि द्वारा दिए गए रससूत्र तथा अरस्तु द्वारा दिए गए विवेचन के सिद्धांत को पुराना घोषित कर दिया। डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सौंदर्यबोधानुभव की चार सीढ़ियाँ निर्धारित की है। जो संकेत विज्ञान के विधान द्वारा अनुभव की विलक्षण कला भाषा तथा सौंदर्यतात्विक वृत्ति की प्रतिकल्पना करती है।⁷ दूसरी सीढ़ी अनुभूति और अनुभव की है। कला का प्रत्यक्षीकरण भावनायुक्त है। यह एक ओर प्रत्यक्षीकरण पूर्वानुभूत स्मृतियों पर आश्रित रहता है तो दूसरी ओर भावना से उपच्छायित रहता है। सूचक बिम्ब और प्रतीक की प्रक्रियाएं भी प्रत्यक्षीकरण में निहित रहती हैं। प्रत्यक्षीकरण के अंतर्गत ग्राहक, प्रतीकात्मक, भावनात्मक तथा सौंदर्यबोधात्मक प्रक्रियाओं का सन्निवेश रहता है।⁸ सौंदर्यबोधानुभव की तीसरी पीढ़ी के रूप में डॉ. मेघ ने संकेत विज्ञान

को लिया है और संकेत विज्ञान के माध्यम से प्रकल्पित अनुभव तथा मनोवृत्ति की एक विलक्षण चर्चा की है और इसके अन्तर्गत सूचक, संकेत, बिम्ब तथा प्रतीक को लिया है। संकेत किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व का इशारा करते हैं। ये उत्तेजक के तत्व हैं जो व्यवहार को उभारते हैं, इसकी तुलना में प्रतीक का व्यवहार दूसरी तरह का है। प्रतीक प्रतिवेदन न करके विमर्श करते हैं अतः प्रतीक धारणा मूलक है।⁹

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने सौंदर्यतात्विक वृत्ति में काव्य के प्रयोजन, आनन्द व्युत्पत्ति के सिद्धांत सहृदय का विमल प्रतिभाशाली अन्वेषक होना, रसभोक्ता की अनुभूति आदि को लिया है। उन्होंने माना है कि सौंदर्यबोध की स्थिति परिवर्तनशील है। वह कहते हैं कि नया जन अनुभव, प्रशिक्षण और बहस एकजुट होने पर आशंसक की सौंदर्यतात्विक वृत्ति बदल सकती हैं।¹⁰ डॉ. मेघ ने सौंदर्यबोधानुभव के चक्र प्रवर्तन पर प्रकाश डालते हुए इसे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से आरम्भ करते हुए इसमें फिल्म, पेंटिंग, बैले नृत्य, चित्र तक को समाहित किया है।

मार्क्सवादी आलोचना के अंतर्गत मनुष्य को समस्त क्रिया-कलापों का अनिवार्य अंग माना गया है। डॉ. मेघ ने भी संस्कृति, मनुष्य और इतिहास पर विचार करना आवश्यक माना, उनकी दृष्टि से मनुष्य समस्त कलाओं का आधारभूत संवर्ग होता है। वह प्रकृत तथा समाज से प्रभावित होता है तथा उसे बदलता भी रहता है।¹¹ संस्कृति में परिवर्तन एवं मनुष्य के सामाजिक विकास पर प्रकाश डालते हुए डॉ. मेघ मानवीय श्रम द्वारा होने वाले विकास एवं परिवर्तन का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार— श्रम मनुष्य की सामूहिक प्रक्रिया है, जो आवश्यकताओं के अनुसार उपकरणों की सहायता से प्रकृति की पुनर्रचना करती है। श्रम की प्रक्रिया में मनुष्य औजार भी निरंतर बदलते हैं, और औजारों के साथ वह भी बदलता है। इस परिवर्तन का अर्थ है कि मनुष्य की चेतना तथा व्यावहारिक कुशलता बदलती है जिससे समाज का भौतिक आर्थिक जीवन भी बदलता है। अतः मनुष्य

में परिवर्तन के कारण सामाजिक संगठन एवं संस्थान बदलते हैं, विचार बदलते हैं, दर्शन कला और नैतिकता बदलती है। इस भांति श्रम तथा उपकरण की बुनियाद पर समाज की उत्पादक शक्तियां एवं उत्पादन सम्बन्ध कायम होते हैं, जो सभ्यता का मूलाधार है।¹²

डॉ. रमेश कुंतल मेघ कला की उपयोगितावादी दृष्टि मानते हुए प्रागैतिहासिक कला की कला का दृष्टिकोण उपयोगितावाद बताते हैं। उनका मत है कि—कर्म तथा व्यवहार की सर्वांगीण एकता के सभी ऐतिहासिक कालों में संस्कृति के मूल्य और भौतिक मूल्यों में एकता होती है। आदिम कलाकार का दृष्टिकोण उपयोगितावादी था। कलाकार के सम्बन्ध में मेघ कहते हैं कि—समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक कारणों से कलाकार गौण वर्गों से आकर वैयक्तिक योग्यताएं एवं क्षमताएं अर्जित करके कला माध्यमों से रचना करते हैं जो अवचेतन तथा प्रवृत्त्यात्मक अभिप्रायों को उन्मिलित करती है। वे सांस्कृतिक रचना में आगे आते हैं अथवा पीछे जाते हैं। उनका यह गमन-आगमन सामाजिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है। लेकिन व्यक्ति रूप में उनका अथवा उनकी कलाकृति का उभरना बहुत कुछ शुद्ध आकस्मिक संयोग है।¹³

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने “अथातो सौंदर्य जिज्ञासा” में सौंदर्य की जिज्ञासा शान्त करने के लिए सौंदर्य का सर्वांगीण तात्त्विक विवेचन किया। सौंदर्यशास्त्र जैसे विषय को ज्ञान-विज्ञान, समाजशास्त्र की कसौटियों पर परखा है; पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के मत की तुलनात्मक व्याख्या की है। डॉ. मेघ की प्रतिभा विविध ज्ञानानुशासनात्मक है, अतः उनके अन्य ग्रंथों की भांति इस ग्रन्थ में भी देशी तथा विदेशी आधुनिकतम ज्ञान की ऐसी वर्षा होती है कि कहीं-कहीं पाठक का क्रमभंग हो जाता है।¹⁴ फिर भी सौंदर्यबोध शास्त्र पर लिखी गयी यह कृति सब मिलकर एक सन्दर्भ समुद्र है जिसमें ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अनुशासनों से सम्बद्ध हजारों नाम कृतियाँ, विचार और रूप खप गए हैं।

मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध :

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने अपनी पुस्तक “मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध” में मध्यकालीन संस्कृति एवं रसदर्शन को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया है। पुस्तक के आरम्भ में उन्होंने वक्तव्य दिया है कि मध्यकालीन बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की पुनर्रचना सबसे जटिल जोखिम तथा ज्योतिर्मय कार्य है। मैंने इतिहास, लेखन शास्त्र तथा इतिहास दर्शन की पद्धतियों का संयोग करके यह कार्य पूरा करने का हौसला किया है। आज हमें रस और ब्रह्म की निर्विकल्प धारणाओं का विश्लेषण ज्ञान के नये औजारों से ही करना होगा। हमें आधुनिक होकर ही मध्यकालीन भारत को समझना होगा। हमने मध्यकालीन सौंदर्य बोधशास्त्र को समसामयिक अर्थ देने का निर्णय किया है, इसलिए हमने भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की अन्तर्चेतन की जीवनी लिखी है, तथा मध्यकालीन भारतीय मस्तिष्क के विकास का इतिहास भी प्रकाशित किया है।¹⁵

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने पुस्तक के आरम्भ में सौंदर्यबोधात्मक या रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए भरतमुनि को प्रथम भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्री माना है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रससूत्र कवि के बजाय अभिनेता के मुख से प्रस्तुत किया है। विभानुभाव्यभिचारि संयोगाद्ररसनिष्पत्तिः नाट्य रस के पश्चात् काव्य रस की व्याख्या आनन्दवर्धन ने की। रामायण, महाभारत, नाट्यशास्त्र और काव्य रस से प्रभावित होकर लिखे गए थे। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रणीत नाटक के 11 तत्व रस, भाव, अभिनय, धर्म प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर आतोद्य गान तथा रंगसंग्रह की डॉ. मेघ ने व्यापक ढंग से व्याख्या की है।

सौंदर्यबोधशास्त्र के कलाचारियों को डॉ. मेघ ने आलोचक एवं दार्शनिक से अलग विचारक कहा है। नवीं सदी में विचारधारात्मक उथल-पुथल के प्रमाण सामानांतरतया कुमारिल, प्रभाकर, जयन्तभट्ट, शंकर, सरहपाद आदि का उत्थान है। इसके पश्चात् आनन्दवर्धन, मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ आदि आये जिनमें आलोचक एवं विचारक का संयोग मिलता है।

डॉ. मेघ का विचार है कि रस के सौंदर्यबोध के तत्व को समझने के लिए मध्यकालीन त्रयणुक क्रांति तथा तद्भूत सौंदर्यबोधशास्त्रीय परम्परा की बारीकियों का जानना अनिवार्य है।¹⁶ सांख्यवादी भट्टनायक रससूत्र के तृतीय व्याख्याता हैं। भट्टनायक की महत्वपूर्ण अभिधा शक्ति को मुक्ति की पहली सीढ़ी मानते हैं। भट्टनायक के सिद्धान्त का विश्लेषण करने के पश्चात् डॉ. मेघ निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि— भट्टनायक ने एक काव्य नाट्यभाषा की रचना की कोशिश में ही अभिधा के अलावा भावकत्व एवं भोजकत्व जैसी दो अतिरिक्त शक्तियों का समावेश किया और हम उन्हें सार्थक मानते हैं।¹⁷ सामाजिक के जिस व्यक्तित्व की धारणा भट्टनायक ने प्रस्तुत की है, वह सांख्य के पुरुष से संचालित है।

भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या करने वाले चौथे व्याख्याकार अभिनवगुप्त को सौंदर्यबोधशास्त्रीय परम्परा में डॉ. मेघ ने हीगेल की संज्ञा प्रदान की है। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ. मेघ कहते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने न्याय के मुताबिक त्रिकदर्शन में द्वंद्वन्यास का प्रयोग किया और निर्विकल्प ज्ञान (परमशिवतत्व) से मात्रा तक के छत्तीस तत्वों को उसी तरह गिनाया जिस तरह हीगेल ने इनसाइक्लोपीडिया में मात्रा के निर्विकल्प ज्ञान तक की अंतः श्रेणियां तय की।¹⁸

डॉ. मेघ सहृदय के अवयवों से सम्बंधित गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करते हुए लिखते हैं कि सहृदय के अवयवों में हम प्रतिभा, अनुशीलन तन्मयता भावना, रसना आदि की प्रधानता पाते हैं। इनकी प्रधानता के दो परिणाम हो सकते हैं— पहला ज्ञान की परम्परा के बजाय अनुभव पर जोर और दूसरा प्रमाण के बजाय अभिव्यक्ति पर जोर। डॉ. मेघ ने नाट्यभूमि साधारणीकरण, रसध्वनि आदि के द्वारा संचरित होने वाले सौंदर्यबोध तत्व का विस्तृत उल्लेख किया है। वेदान्त के आधार पर रस के सम्बन्ध में नवीन मत प्रस्तुत करने वाले पण्डित जगन्नाथ के मत को विशेष मान्यता दी गयी है। पण्डित जगन्नाथ द्वारा भरत रससूत्र की व्याख्या पर विविध पक्षीय विचारोपरांत

निष्कर्ष देते हुए डॉ. मेघ लिखते हैं कि भरत ने सूत्र के माध्यम से कलाशास्त्रों का विश्वकोष रचा था। इस परम्परा की परिणति पण्डित जगन्नाथ में हुई जिन्होंने रसध्वनि के स्थान पर रमणीयता की धारणा का निवेश कराया। भरत की कलाशास्त्रीय परम्परा नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के मार्गों से होती हुई सौंदर्यबोध में परिणत होती है।¹⁹

डॉ. मेघ ने “मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध” पुस्तक को दो खण्डों में विभक्त किया है। दूसरे खंड में सौंदर्यबोधानुभव या रसानुभूति शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठभूमि भट्टलोत्, श्री शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोज रसेश्वर सिंह, विश्वनाथ, भानुदत्त, रामचंद्र, गुणचन्द्र वैष्णव सौंदर्यबोधशास्त्री पंडितराज जगन्नाथ ये बारह उप शीर्षक हैं। इनमें उक्त कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सौंदर्यबोधानुभव या रसानुभूति विषयक अवधारणा के विकास क्रम की संगति का विवेचन हुआ है। डॉ. रमेश कुन्तल मेघ करते हैं कि पण्डितराज जगन्नाथ ने भरत के रससूत्र के सभी अवयवों तथा पारिभाषिकों को स्थानांतरित प्रतिकृति तथा अमूर्तीकृत कर डाला। रस दर्शन के लम्बे नाटक के अंतिम अंक का फलागम यही है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि वेदान्ती पंडितराज ने दार्शनिक भूमि पर रमणीय शोभा के काव्य देहवासी रूपक से गृहीत रमणीयता की धारणा को आधार बनाकर सौंदर्यबोधशास्त्र की नींव डाली। वे भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र के बोमगार्टन हैं।²⁰

बोमगार्टन पाश्चात्य साहित्य में सर्वप्रथम सौंदर्यशास्त्र का उल्लेख करने वाले विचारक हैं भारतीय विचारकों में वही स्थान डॉ. मेघ ने पंडितराज जगन्नाथ को दिया है। “मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध” नामक यह पुस्तक मध्यकालीन सौंदर्यबोधात्मक सांस्कृतिक मानस का प्रतिबिम्ब है। लेखक ने इसे आधुनिक ढंग से निवेदित किया है।

साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक :

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने सौंदर्यबोध पर समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से व्यापक धरातल

पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। “अथातो सौंदर्य जिज्ञासा” के तीन वर्ष बाद प्रकाशित यह कृति (साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक) उसकी अगली कड़ी के रूप में सामने आयी है। लेखक ने भी पुस्तक की भूमिका में आग्रह किया है कि— मेरी पूर्ववर्ती “अथातो सौंदर्य जिज्ञासा” शीर्षक सौंदर्यबोधशास्त्रसंहिता से पृथक् संविधान इस ग्रन्थ में हुआ है, तथापि उसका पूरक मानकर यदि इसका अध्ययन किया जाये तो मुझे सन्तोष होगा।²¹

डॉ. मेघ ने पुस्तक को अध्याय के रूप में विभक्त न कर महाप्रश्न साक्ष्यप्रश्न, उत्तरसाक्षी, अनागत उत्तरसाक्ष्य शीर्षक से विभक्त किया है जिसमें लेखक द्वारा सौंदर्य प्राश्निक बताओ कि क्या आर्य और ग्रीक एक जैसे आदिम संस्कृति मंडलों के सखा थे और वे आर्कटाईपल निश्चयता के कैसे सौंदर्यधन्वा थे? सौंदर्य प्राश्निक बताओ कि पश्चिम में कलासौंदर्य इतिहास की धारा के अन्वेषण की यात्रा कैसे हुई? सौंदर्य प्राश्निक बताओ कि भारतीय शिल्पकला के त्रिपार्श्व में काल तथा कला के दर्शन सूत्र कौन-कौन से हैं? सौंदर्य प्राश्निक बताओ कि मार्क्सवाद में सौंदर्यतत्त्व के प्रतिमानों और आयामों की आवश्यकता तथा स्वतन्त्रता कैसी है? तुम्हीं बताओ पुरातन मिथक बनाम आधुनिक भाषा की पुनश्चर्या कैसी है? तुम्हीं बताओ कि चित्ति लीला में प्रतीक के इन्द्रजाल क्यों छाये हैं? तुम्हीं बताओ कि बिम्बों के सौंदर्यबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण में द्वंद्वमान क्या है? तुम्हीं बताओ कि सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया में, विचार की सृजनात्मक एवं उत्पादक दिगन्त कथाएं कौन हैं? और अंत में सौंदर्य प्राश्निक आओ, अब हम ही बताएं कि आजकल नए भरत सूत्र के अनुसार आनंद मर जाता है। ऐसे ही बहुत सारे प्रश्न और जिज्ञासा को अध्याय क्रम में उठाया है।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने आर्यों एवं ग्रीक आर्यों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए मिथकों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने तत्कालीन मूर्ति एवं चित्रकलाएं तथा प्रचलित कथाओं का उल्लेख किया है। आर्य अपने को श्रेष्ठ

मानते थे। द्रविड़ संस्कृति के लोग शान्ति पसंद और आराम पसंद थे। महाकाव्यों के युग में समलैंगिक रति ही प्रधान थी और वासना का निरुद्देश्य निष्कासन ही प्रेम था। एक मूढ़ पत्नी और एक गृहबन्दिनी माता के रूप में नारी की हीनता ने और समलैंगिक रति के विकृत मनोविज्ञान ने ग्रीक संस्कृति के अंतर्ग्रथन को छिन्न कर दिया था।

सौंदर्य का उपयोग करने वाले मूल साधन क्या हैं? इस पर विचार करते हुए डॉ. मेघ ने ग्रीक और भारतीय दोनों ही आदिम संस्कृतियों का उल्लेख किया है और नाट्यशास्त्र की चर्चा करते हुए बताया कि उसके पहले अध्याय में इन्द्रध्वज का उल्लेख हुआ है। माहेश्वर के नन्दी नामक वृषभ को रंगाभाव के आनंद उन्माद मिलने की चर्चा की है। स्त्रियों के बिना कौशिक आनंद उन्माद मिलने की चर्चा की है। यक्ष, गन्धर्व, किन्नर अर्थात् आर्यतर जातियों के साथ यह उत्सव मनाने का संयोग बताया है। देहली पर यम दण्ड को स्थापित कर रंगपीठ के नीचे यक्ष, गुह्याक, पन्नग आदि सर्पों को नियोजित कराया है। आनंद के उन्मादोत्सव में नायक को इंद्र के द्वारा आच्छादित तथा नायिका को सरस्वती द्वारा अभिप्रेरित किया है।

निष्कर्ष रूप में डॉ. मेघ लिखते हैं कि आनंदोल्लास का सम्मोहन एवं ऋतु तत्त्व की शक्ति ही ग्रीक आर्य सौंदर्योपभोग का लक्ष्य रही है। वास्तव में यहाँ तात्कालिक अनुभव का अतिक्रमण और फिर आनंदोल्लास की दशा में उसी अनुभव का नवीन पारिभाषिकों मिथकों द्वारा पुनर्नवीनीकरण हुआ।

डॉ. रमेश कुंतल मेघ की मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि के आधार पर तद्वृत्त आलोचनात्मक कृतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी करने के पश्चात् हम देखते हैं कि डॉ. मेघ ने प्राचीन साहित्य और सौंदर्य दृष्टि को नयी कसौटी पर परखकर सौंदर्यबोधाशास्त्र को नई दिशा प्रदान की है। डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने कहा कि अब साहित्य विधा से आगे आकर कला हो गया है। यह नई तकनीकी का परिणाम है। भारतीय कलाओं में वास्तुकला, चित्रकला, शिल्पकला तीन कलाओं का

॥ मूल्यांकन ॥

मेल माना गया है। इन तीनों की कमी बताते हुए डॉ. मेघ ने कहा कि ये निर्भाषित कलाएं हैं। सौंदर्यशास्त्र वह है जिसमें एक से अधिक कला है। नर्तकी है तो वेशभूषा, गहने आदि पहनती है काव्य और संगीत के माध्यम से नृत्य होता है। डॉ. मेघ ने प्राचीन साहित्य और संस्कृति को सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियों पर कसा

और सौंदर्यबोधशास्त्र नाम दिया। आलोचना हेतु नए शब्द भी गढ़े। संस्कृताचार्यों एवं पाश्चात्य विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियों में भारतीय एवं यूरोपीय संस्कृति को व्याख्यायित एवं विश्लेषित किया है।

सन्दर्भ सूची

- ¹मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 07
- ²मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 07
- ³मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 17
- ⁴मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 114
- ⁵मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 164
- ⁶मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 201
- ⁷मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 248
- ⁸मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 341
- ⁹मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 351
- ¹⁰मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 362
- ¹¹मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 453
- ¹²मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 455
- ¹³मेघ, रमेश कुंतल (1977) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 483
- ¹⁴मनास, जगदीश सिंह (1996) सौंदर्यबोध शास्त्रीय विश्वकोष की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 225
- ¹⁵मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 18
- ¹⁶मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 88
- ¹⁷मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 164
- ¹⁸मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 169
- ¹⁹मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 101
- ²⁰मेघ, रमेश कुंतल (1969) मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 364
- ²¹मेघ, रमेश कुंतल (1969) साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ 33

9462607259

सहायक आचार्य

अग्रवाल महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय

गंगापुर सिटी, राजस्थान

डॉ. रमेश कुंतल मेघ : वे स्वयं मिथक भी हैं, बहाना भी और एक रास्ता भी...

शशिभूषण द्विवेदी

क्या सारे संसार के मिथक साहित्य को एक जगह स्थापित करके हिन्दी में इतिहास बना जाने वाले डॉ. रमेश कुंतल मेघ स्वयं एक मिथक की तरह देखे-परखे जाने योग्य हैसियत रखते हैं; और सारे लेखन की आत्मा में सौन्दर्य बोध, ज्ञान के अनेक विधाओं की आवाजाही, संसार के अधिकतर साहित्य-दर्शन का समावेश और भाषा का एक अलग रूप ऐसा कोई नया मिथक रचते हैं, जिस पर आनेवाली पीढ़ियाँ अपने ज्ञान कोष की नींव रखकर साहित्य और साहित्येतर विधाओं को रचकर सभ्यता के शाश्वत विकास में अपनी भूमिका अदा करेंगी ?

क्या डॉ. मेघ ने जो अपनी पढ़ी हुई दो ट्रक किताबें वर्धा के हिन्दी विश्वविद्यालय को दे दीं; और उन ट्रकों को तब तक निहारते रहे जब तक वे ट्रक उनकी आँखों से ओझल नहीं हो गए, इसमें कोई ऐसा संदेश है जो हमें यह सोचने पर मजबूर करता है (ऐसा ही एक मिथक डॉ. नामवर सिंह ने भी रचा है जिन्होंने अपनी करीब पन्द्रह हजार किताबें जोधपुर विश्वविद्यालय को दे दिया है) कि डॉ. मेघ और डॉ. सिंह की पीढ़ी हमसे धीरे-धीरे विदा हो रही है, और अब इस देश के विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग इस कदर होते जा रहे हैं कि वहाँ इन मेघावी, मेहनती, समर्पित, पढ़ाकू और साहित्य-समाज को कुछ देते रहने की ललक वाले मनीषियों का टोंटा होता जा रहा है ? क्या यह पैसठ करोड़ की आबादी और दस प्रांतों वाले रामविलास शर्मा के 'हिन्दी-देश' के लिए विचारणीय प्रश्न नहीं है; जहाँ के विश्वविद्यालय हिन्दी-मीमांसा की समृद्धि में अपूर्व योगदान देते रहे हैं ?

क्या यह भी विचारणीय नहीं है कि लेक्चरर से रीडर, रीडर से प्रोफेसर, प्रोफेसर से डीन या वीसी बनने में ही लोगों की सारी उर्जा खर्च हो रही है और

पढ़ाई-लिखाई तथा ज्ञान-प्राप्ति से समाज को कुछ देने की ललक या तो नकारात्मक मान ली गई है; या उसे दोयम दर्जे की चीज मानकर थोड़े-बहुत जो पढ़ने-लिखने वाले प्रतिभाशाली लोग हैं, उनका या तो मजाक उड़ाया जाता है, या उनकी कम चर्चा होती है या नहीं होती है ?

क्या यह भी विचारणीय प्रश्न नहीं है कि किसी भी भाषा और साहित्य में महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए एक-दो दूसरी भाषाओं, या दूसरे ज्ञानानुशासनों में दखल एकदम आवश्यक है; और कोई भी महत्वपूर्ण मीमांसासूचक कार्य तब तक टकसाल नहीं माना जा सकता जब तक उसमें इन अनुशासनों की छौंक या छुअन नहीं हो; और लाख टके की सवाल यह कि क्या यह सब हिन्दी से विदा होता जा रहा है; और इस पर बात तक करने की लोगों को फुर्सत नहीं है ?

और क्या डॉ. मेघ, डॉ. सिंह, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा, या अज्ञेय, निर्मल वर्मा, राजेश जोशी, लीलाधर जगूड़ी, कुंवर नारायण, अष्टभुजा शुक्ल या दूसरे और कई लोग हिन्दी की समृद्धि में इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि इनकी पैठ हिन्दी के अलावा और ज्ञानानुशासनों में भी रही है; और उस पैठ ने इनके हिन्दी योगदान को ऐतिहासिक बनाया है ? डॉ. मेघ तो इसी श्रेणी के हैं ही ।

तो इन्हीं उमड़ते-धुमड़ते प्रश्नों की रोशनी में डॉ. मेघ मेरे लिए मील का पत्थर भी हैं, और एक ऐसे मनीषी भी; जो ऐसे सभी प्रश्नों का उत्तर खोजने में एक बहाने की तरह भी सोचे और बरते जा सकते हैं! आईये एक-एक करके इन बिन्दुओं पर विचार किया जाए!

डॉ. मेघ ने मिथकों पर पोथा जैसी महान् किताब 'विश्व मिथक सरित्सागर' लिखी, जिसके लिए उन्हें

2018 में साहित्य अकादमी सम्मान लीक से हटकर (मीमांसा या आलोचना की पुस्तकों पर प्रायः साहित्य अकादमी पुरस्कार नहीं मिलता, या नहीं दिया जाता) दिया गया; लेकिन 'मिथक' शब्द उन पर भी उसी तरह लागू होता है; क्योंकि अपनी लगभग सभी 24 किताबों में उनके दिमाग का कांटा सौन्दर्य बोध पर आकर ठहर जाता है। वैसे इस विषय पर उनकी पूरी दो किताबें **अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा और साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक** मील का पत्थर तो है ही! लेकिन वे इस अर्थ में भी मिथक हैं कि दुनिया की कई भाषाओं, सभ्यताओं, सांस्कृतिक-राजनीतिक उथल-पुथलों, विज्ञानों, आयुर्वेद, इतिहासों, समाजशास्त्रीय मान्यताओं आदि से निचोड़कर उन्होंने अपने ज्ञान का भंडार भरा और उसे हिन्दी को समर्पित कर दिया। वे खजुराहो, अजंता-एलोरा में घूमते-विचरते अगर बुद्ध के दर्शन पर सौन्दर्य शास्त्रीय प्रभाव देखते हैं; तो यह भी देखते हैं कि तुलसीदास को 'आधुनिक वातायन से' कैसे देखा-परखा-समझा जा सकता है। मेरी बात की प्रामाणिकता के लिए उनकी अद्भुत पुस्तक **'तुलसी आधुनिक वातायन से'** से देखी-परखी-पढ़ी जा सकती है। मुझसे असंख्य टेलीफोन वार्ताओं में अपनी अद्भुत आवाज में वे कहते थे, "अरे प्रियवर! जवाब है तुलसी दास का? उस आदमी ने कुछ छोड़ा है? उनके जैसा विद्वान-कवि तो संसार में है ही नहीं।" हिन्दी संसार इस बात से परिचित है कि तुलसीदास पर कुछ 'वादी' विवादियों ने कितनी निकृष्ट राजनीति की है; और रामचन्द्र शुक्ल तक को कटघरे में खड़ा करने की कोशिश में स्वयं किस तरह उधार हो गए हैं। तुलसीदास की बौद्धिक शक्ति और उनके कवित्व की पराकाष्ठा को जिस आयाम और बौद्धिकता से डॉ. मेघ ने इस किताब में समझा है; उस समझ ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक प्रो. रूपर्ट स्नेल को तुलसीदास पर लेखन की प्रेरणा दी है; और प्रो. स्नेल की किताब हिन्दी अंग्रेजी दोनों में अक्टूबर में इंग्लैंड के एक बड़े प्रकाशन समूह से आ रही है। एक अंग्रेजी दैनिक को दिए अपने साक्षात्कार में डॉ. स्नेल ने

स्वीकार किया है कि वे डॉ. मेघ की किताब से प्रभावित होकर ही तुलसीदास पर लिखने को आतुर हुए। डॉ. स्नेल अपनी किताब की भूमिका डॉ. मेघ से लिखवाना चाहते थे; लेकिन पिछले वर्ष सितंबर में मेघ साहब की मृत्यु के बाद वे किसी ऐसे विद्वान की खोज में हैं जो डॉ. मेघ को ठीक से समझता हो! उन्होंने कुछ ताजा लोगों से संपर्क किया है।

इसी पत्रिका के एक पिछले अंक में यह चर्चा कर चुका हूँ कि डॉ. मेघ ने अपनी सारी साहित्यिक-सामग्री को ज्ञान की दूसरी विद्याओं, इतिहास, समाजशास्त्र, आयुर्वेद, गणित, विज्ञान आदि से लेकर उसे ऐसा साहित्यिक रूप दिया है कि वह हिन्दी की प्रवृत्ति का हो गया है और हिन्दी की उसकी प्रकृति एकदम भारतीय या विशाल पूर्वी संस्कृति का हिस्सा हो गई है। उन्होंने दुनिया भर के ज्ञानकोष से अपनी सामग्री अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ली है; और उसे भारतीय या पूर्वी रंग में ढाल दिया है। अंग्रेजी लेखक इ. एम. फॉरस्टर का यह कथन यहाँ चकनाचूर हो जाता है कि "पश्चिम पश्चिम है और पूरब है पूरब"; क्योंकि इसी उपमहाद्वीप की विदुषी राजनीतिज्ञ स्वर्गीय बेनजीर भुट्टो की आत्मकथा का नाम है **'डॉक्टर ऑफ द इस्ट'** यानि **'पूरब की बेटी'** डॉ. मेघ घुमा-फिराकर भारतीय देवी-देवताओं, मिथकों, पर्व-त्योहारों, लेखकों पर आ धमकते हैं और यह साबित करते हैं कि पूरब अंग्रेजों की समझ से अलग का मामला है और इस संदर्भ में अरस्तू, प्लेटो, लूकाच, टेरी इगलटन आदि को भी आड़े हाथों लेते हैं। आखिर हमारे एक बड़े ही तैयार विद्वान और 'वादी' लोगों के पार्टनरों की पालिटिक्स पर लानत-सलामत भेजते रहने वाले स्वर्गीय कृष्ण दत्त पालिवाल तो कह ही चुके हैं "आखिर क्या कारण है कि मार्क्सवादियों में रामविलास शर्मा और रमेश कुंतल मेघ ज्यादा विश्वसनीय लगते हैं।" यह वाक्य बहुत कुछ कहता है और इन विभूतियों की मूल-बौद्धिक-ईमानदारी से हमारा सामना कराता है। डॉ. पालीवाल 'घुट्टीबाजी' के ज्ञान के विरोधी थे। डॉ. मेघ की साहित्यिक यात्रा बिहार में आरा के एक

प्रतिष्ठित कॉलेज महाराजा कॉलेज से शुरू हुई थी। बाद में वे पंजाब विश्वविद्यालय में गए और वहां से अमृतसर के गुरुनानक देव विश्वविद्यालय में प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष बनकर आए। हमलोग दिल्ली विश्वविद्यालय के अपने आठवें दशक के विद्यार्थी जीवन में कथा सुना करते थे कि एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय में उनके चयन की सारी प्रक्रिया पूरी हो गई थी, लेकिन उस समय के कुछ प्रभावी लोगों ने उन्हें ज्वाइन नहीं करने दिया कई तिकड़में लगाकर। इस तरह की कहानियां आजकल हिन्दी-विभागों में खास से आम बन चुकी हैं। इसलिए हमारे जैसे लोगों के लिए अब यह सब मिथक ही है। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में थोड़े दिन बिताए लेकिन उन्हें यह जगह रास नहीं आई। वे अमेरिका के इंडियाना विश्वविद्यालय में भी रहे। मिथकों पर उनकी किताब अमेरिका में ही पूरी हुई। माना जाता था कि वे जहां रहते थे, वहाँ दूसरों को कोई पूछता भी नहीं था। यह स्मरणीय है कि पूरा जीवन किसी न किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाते हुए ही इस आदमी ने इतना सारा और इतना महत्वपूर्ण काम किया जो किसी हिन्दी वाले के बूते का था ही नहीं। उनकी सारी सामग्री या तो संस्कृत भाषा के माध्यम से आई या सारा विदेशी चिंतन अंग्रेजी के माध्यम से, उनकी मेहनत की पढ़ाई से और उस पर मंथन से आया। लेकिन उन्हें धन्यवाद और साधुवाद इसलिए देना चाहिए कि उन्होंने इस सारी सामग्री को अपने भीतर पचाया-पकाया और उसे ऐसी भारतीय या पूर्वी रंगत दी कि वह देदीप्यमान हो गया। इसलिए वे अपनी भाषा को ‘भविष्य की भाषा’ कहते थे; क्योंकि उनका मानना था कि भविष्य की हिन्दी उसी तरह की होगी; क्योंकि यह ‘वैश्विक हो रही है और दुनिया भर की भाषाओं के संपर्क में आ रही हैं।’ अहमकों ने उनकी भाषा पर जो टिप्पणियाँ की हैं, उन्हें निरस्त करते हुए संस्कृत साहित्य के विद्वान प्राध्यापक और अपनी जमीन के जानेमाने कवि अष्टभुजा शुक्ल ने मुझसे एक बार कहा था, “बिल्कुल भाषा विषय के अनुरूप तो होती ही है।” डॉ. मेघ की सारी सामग्री चूंकि विभिन्न

ज्ञानानुशासनों की विभिन्न भाषाओं से आई हैं; इसलिए उसे ‘वैश्विक हिन्दी’ प्रो. स्नेल भी मानते हैं। भाषा का मामला चाहे जितना पेचीदा माना जाय, उसके सौन्दर्य, उसकी शुद्ध व्याकरणीय बनावट, विषय को व्यक्त करने की उसकी क्षमता और सबसे बढ़कर उसे पाठकों तक पहुंचाने की लेखकीय क्षमता आदि ने डॉ. मेघ की भाषा को एक नई पहचान दी है जिस पर हिन्दी के शोधार्थियों को सोचना हिन्दी में शोध की स्थिति पर तो अलग डिबेट की ही आवश्यकता है। कुछ वर्ष पहले एक प्राध्यापक ने ‘समीक्षा’ पत्रिका के प्रो. नित्यानंद तिवारी पर केन्द्रित एक अंक में लिखा, “हिन्दी की करीब दस हजार थीसिस की मान्यता को यूजीसी खत्म करने की योजना बना रहा है।” क्योंकि उनका कोई स्तर नहीं है।

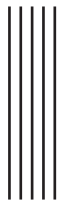
जहाँ तक ज्ञान के दूसरे अनुशासनों की बात है तो ऊपर जिन लोगों की चर्चा मैंने की है उनमें डॉ. मेघ बीएससी तक शुद्ध विज्ञान यानि भौतिकी, रसायन और गणित के उदीयमान छात्र इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रहे। उसके बाद उन्होंने हिन्दी में एमए हजारी प्रसाद द्विवेदी और राहुल सांस्कृत्यायन के परामर्श पर किया। अज्ञेय भी इन्हीं विषयों के विद्यार्थी थे और मद्रास विश्वविद्यालय में एमए में अंग्रेजी साहित्य के छात्र थे; लेकिन उन्होंने एमए की परीक्षा नहीं दी। निर्मल जी इतिहास के छात्र थे। देश के जानेमाने कॉलेज सेंट स्टीफेंस से इतिहास में एमए करने के बाद उनकी पत्नी गगन गिल के शब्दों में “उन्होंने अपने च्वायस या रुचि से हिन्दी में लेखन शुरू किया और सफल रहे।” रामविलास शर्मा जीवन भर आगरा विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाते रहे और हिन्दी को उन्होंने इतिहास, समाजशास्त्र, मार्क्सवाद, भाषा विज्ञान आदि से समृद्ध किया। डॉ. नगेन्द्र अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में एमए थे। राजेश जोशी प्राणीशास्त्र में एमएससी और समाजशास्त्र में एमए हैं। जगूड़ाजी संस्कृत पढ़े हैं और अष्टभुजा शुक्ल ने संस्कृत साहित्य पढ़ा भी है, पढ़ाया भी है। और नामों में हजारी प्रसाद द्विवेदी, विजयदेव नारायण साही, विनोद शाही आदि के नाम

लिए जा सकते हैं। इन नामों का उल्लेख करने के पीछे मेरी मंशा यह बताने की है कि ज्ञान के दूसरे अनुशासनों का समाहार करके अपनी भाषा को इन लोगों ने जो दिया; उसके साथ कृतघ्नता नहीं होनी चाहिए। सिर्फ हिन्दी का ढिंढोरा पीटने से कुछ होने जाने को नहीं है। हिन्दी में दूसरे अनुशासन के लोगों ने जितना महत्वपूर्ण काम किया है उतना क्या सिर्फ हिन्दी पढ़कर हो सकता है, या हो सकता था। हिन्दी विभागों के लोगों पर इस गंभीर चिंतन का भार है और डॉ. मेघ जैसे लोगों के बहाने इस पर सार्थक बहस की गुंजाइश बनती है। यह अद्भुत बात है कि नई पीढ़ी में भी वही हिन्दी में चर्चा के केन्द्र में, हालांकि अपनी-अपनी राजनीति की सुविधा के अनुसार आते हैं, जो अनामिका या बद्रीनारायण की तरह दूसरे अनुशासनों से आते हैं। डॉ. मेघ ने यत्नपूर्वक 'समीकरण और वायोनामियल' की गणित और भौतिकी की दुनिया से उलट हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, समाजशास्त्र, मिथक, आयुर्वेद आदि का गहन अध्ययन किया और स्वाध्याय के बूते उस मकाम तक पहुँचकर मिथकों की श्रेणी में आ गए। ऐसे लोग विभागीय तिकड़म-फरेब से दूर रहकर संतों-मनीषियों की तरह लेखन-अध्ययन-चिंतन और साहित्य को देवता मानकर चलते रहे और हर क्षण कुछ नया देने की ललक ने इन्हें महान् बनाया। डॉ. मेघ की महानता इसमें भी है कि उनके जैसे लोग कई बहसों का बहाना बनते हैं; और प्राचीनकाल से चली आ रही 'शास्त्रार्थ' की मिथकीय परंपरा को

आज के मैनेजमेंट के 'ग्रुप डिसक्शन' तक लाकर अमर्त्य सेन जैसे सुधी विद्वान से 'द आर्ग्यूमेन्टेटिव इंडियन' जैसी किताब लिखवा लेते हैं; जिसमें नोबेल पुरस्कार प्राप्त अर्थशास्त्री प्रो. सेन गणित, वेद, इतिहास, मिथक और अर्थशास्त्र से इन अनुशासनों का संबंध स्थापित करते हुए इस तथ्य का डंका बजाते हुए एलान करते हैं कि "भारतीय आदमी वेदों के समय से बहस-पसंद रहा है" यानि "Indians, from time-inmemorial, - have been very very argumentative." ज्ञान की समानता और डॉ. सेन, डॉ. मेघ और ऊपर वर्णित सारे विद्वानों का प्रसंग इस बात का उदाहरण है कि "महाजनेन यतोगदः सपन्थाः" यानि महान् लोग जिस रास्ते से चलते हैं वही रास्ता ठीक है। डॉ. मेघ ने एक रास्ता भी दिया है और उस रास्ते पर चले भी हैं। और हम ?? यही तो सूरसा जैसा प्रश्न है और उत्तर अवगाहन मांगता है। ज्ञान के असंख्य महानायकों को ज्ञान की अनेक विधाओं से खींचकर डॉ. मेघ ने अपने साथ किया है और सारे सूरसा जैसे प्रश्नचिन्हों को भस्मीभूत करते हुए अवगाहन का रास्ता दिखाया है। हमें भी, जो विभागों से इतर हैं या वहां नहीं हैं; और 'प्रश्नचिन्ह' बने जा रहे हैं!! 'भीतर' और 'इतर' में कौन 'बेहतर' है इस में भी अवगाहन की आवश्यकता है। आप क्या सोचते हैं पाठको ?? डॉ. मेघ अपनी देह का दान करके दधीचि जैसे मिथक हो गए हैं, और वे बहाना और रास्ता तो हैं ही!!

संपादक : चूंकि इस लेख के लेखक एक किताब पर हिन्दी अंग्रेजी दोनों भाषाओं में काम कर रहे हैं; और कुछ लेख पहले भी लिख चुके हैं, इसलिए इस लेख में पिछले लेखों की बातों और सवालों से उन्होंने परहेज किया है और अपनी मान्यताओं के अनुसार डॉ. मेघ के एक अलग पक्ष पर विचार किया है।

डॉ. मेघ से संबंधित कुछ और सामग्री भी हमें उनके माध्यम से ही प्राप्त हुई है— जैसे डॉ. की एक पेटिंग जो उनकी चर्चित किताब 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक' के मुख पृष्ठ पर ही अंकित है।



9775938214
महावीर गेस्ट हाउस
31ए, के.सी.दे. रोड, दार्जीलिंग - 734001



रमेश कुंतल मेघ : कविता के आर्यार देखती दृष्टि

- शशि मुदीराज

‘सरोज स्मृति’ में निराला ने बेटी सरोज को ‘जीवित कविते’ सम्बोधन दिया है। जैविक और प्रातिभ रचना का अपूर्व युग्म है यह सम्बोधन। रमेश कुंतल मेघ ने आलोचना के स्तर पर कविता-मात्र से ऐसा ही सम्बन्ध बनाया है— एक आवयविक (आर्गेनिक) जीवित और जीवन्त सम्बन्ध। कविता उनके लिए, एक बार में, समय के एक खास बिंदु पर व्यक्त हो जाने वाली रचना मात्र नहीं है, बल्कि यह एक संघटना (फेनामिना) है जो कवि के निगूढ़ व्यक्तित्व, जीवनानुभव और जीवन के बहुआयामी फलक पर बार-बार घटित होती है। अपने हर पाठ के साथ कविता नए अर्थों को प्रक्षेपित करती चलती है। 1975 में प्रकाशित “क्योंकि समय एक शब्द है” की भूमिका में मेघ जी ने अपनी आलोचना-दृष्टि का मूल सूत्र दिया है, वह है “साहित्य का शब्द-संसार, कृति का अनुभव-संसार तथा समाज का घटना-संसार— इन तीनों का समन्वय ही सही आलोचना का समाहार है।” अर्थात् कृति का अनुभव, जो परिवेश (‘देशकाल के सर से बिंधकर’) के घात-प्रतिघात से निर्मित है, वही कृति के शब्द-रूप की रचना करता है। लेकिन इसके साथ इसी भूमिका की आरंभिक पंक्तियों पर ध्यान दिया जाना चाहिए— “... कोशिश यह हुई है ज्ञान के साहित्यशास्त्र में ज्ञान का समाजशास्त्र भी सार्थक ढंग से जुड़े। इसके लिए साहित्य के साथ समय और समाज के घटक भी संश्लिष्ट होते चले गए हैं।” (पृ.-7) दो शब्दों पर ध्यान अटक जाता है— ‘ज्ञान का साहित्यशास्त्र’ और ‘ज्ञान का समाजशास्त्र’। याद आती है महावीर प्रसाद द्विवेदी की दी गई परिभाषा “साहित्य ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम है।” “वाङ्मय” के दो रूप (शास्त्र और काव्य) रमेश कुंतल मेघ की आलोचना-दृष्टि में अनुस्यूत

हैं। उनके अनुसार रचना के आस्वादन के लिए उसकी अर्थ-मीमांसा ही काफी नहीं, उन घटकों का भी विश्लेषण आवश्यक है जिनसे रचनाकार का अनुभव जगत निर्मित होता है। “क्योंकि समय एक शब्द है” में 36 लेख संकलित हैं जिनमें मेघ जी का अन्तर्विधायी (Interdisciplinary) अभिगम (अप्रोच) और काव्यास्वाद की क्षमता प्रकट हुई है। तीन खण्डों में बँटी इस पुस्तक की भूमिका में मेघ जी स्वीकार करते हैं— “कविता के खण्ड में चुनौतियाँ ज्यादा गहरी हैं क्योंकि भावों का विकास और इतिहास, द्वन्द्व और रूपान्वय तो विचारों से भी ज्यादा सूक्ष्म तथा जटिल होता है।” (पृ.-7)

तो आरंभ करते हैं मेघ जी के एक लेख से जिसका शीर्षक है— “क्या ‘राम की शक्तिपूजा’, ‘सरोज स्मृति’ का ही आत्मकथात्मक रूपांतर तो नहीं है?” एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ प्रस्तुत यह लेख मेघ जी इन वाक्यों से शुरू करते हैं— “ज़ाहिर है कि सब चौंक पड़ेंगे यदि मैं बेसाख्ता यह कह दूँ कि निराला की ‘राम की शक्तिपूजा’ बेशक ‘सरोज स्मृति’ का रूपांतर तथा विस्तार है।” (पृ.-376) यद्यपि ‘सरोज स्मृति’ के आत्मकथात्मक होने में आलोचकों को कभी संदेह नहीं रहा, और ‘राम की शक्तिपूजा’ के राम में निराला के आत्म-प्रक्षेपण को भी स्वीकार किया गया है, किन्तु एक वर्ष के अंतराल में लिखी गयी इन दो कविताओं के बीच “रूपांतर” तथा “विस्तार” का अंतःसंबंध मेघ जी की अपनी मान्यता है, जिसे और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं— “बस, परिवेश (मिथकीय वातावरण बनाम कवि का वातावरण) और घटना (राम-रावण युद्ध बनाम युवती बेटी सरोज की मृत्यु) में अदल-बदल हो गयी है।”

आगे अपनी अन्तर्विधायी या अन्तर्ज्ञानानुशासनात्मक "अप्रोच" और महत्वाकांक्षा से लैस होकर वे लिखते हैं- "सिगमंड फ्रायड ने लियोनार्दो-द-विंची के चित्रों के आधार पर उनकी शैशव की जीवनी और सम्पूर्ण चरित्र उद्घाटित कर दिया था। मैं यहाँ इन दो रचनाओं का मुकाबला करके निराला के चारित्र्य की पेशकदमी करूंगा।"

फ्रायड मनोविज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने दविंची के मनोविज्ञान को उनके चित्रों के माध्यम से उद्घाटित किया। मनोविज्ञान मेघ जी का भी प्रिय विषय है जिसका उपयोग करते हुए कविता के माध्यम से निराला की आत्माभिव्यक्ति को वैज्ञानिक मूर्त रूप देने की उन्होंने चेष्टा की। मनोविज्ञान ही नहीं, नृवंशशास्त्र, मिथकशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र (जिसे वे सौन्दर्यबोध शास्त्र कहना पसंद करते हैं) के समन्वित उपयोग से रमेश कुंतल मेघ के प्रतिपाद्य बिन्दु इस प्रकार हैं -

(1) समानान्तरता (पैरेलेलिज़्म) की दृष्टि से 'सरोज स्मृति' के निराला और 'शक्तिपूजा' के राम की हारी-थकी, निराशा और विवश-मनोदशा से रचना का आरंभ होता है। वातारण भी एक-सा है- 'स्मृति' में श्रावक-नभ का अंधकार है तो 'शक्तिपूजा' में अमावस की रात का अंधकार उगलता गगन है। आगे चलकर 'स्मृति' में बेटी सरोज की सवा साल की अवस्था से लेकर यौवनागम तक के बिम्ब हैं तो, राम को पुष्पवाटिका का 'लतान्तराल मिलन' याद आता है, धनुर्भंग की याद करके राम का हाथ स्वमेव ऊपर उठ जाता है। इसके समाहार में मेघ जी लिखते हैं कि "किसी गूढ़ अद्वितीय भावविभोरता में निराला अपनी अवचेतनावस्था में 'राम की शक्तिपूजा' में कोरमकोर 'सरोज स्मृति' के मनोलोक का अवतार करा लाये हैं। शायद वे भी नहीं जानते होंगे कि यह मनोवैज्ञानिक कैथार्सिस यहीं आकर पूर्णकाम हो सकेगा।

(2) दोनों कविताओं को समानांतर रखकर आलोचक रमेश कुंतल मेघ ने पग-पग पर समानता के बिन्दु खोजे हैं। यहाँ तक कि "शक्ति की मौलिक कल्पना" से सरोज के विवाह के क्रांतिकारी पूजाक्रम को जोड़ते हुए से "विवाह की एक मौलिक और वास्तविक कल्पना-अल्पना" बताते हैं। "मानो ज्योतिः शरण-तरण करने वाली सरोज ही "शक्ति पूजा" में विश्व-ज्योति मातृशक्ति में रूपांतरित होती है।"

(3) समानता स्थापित करने के इस सायास क्रम के बाद मेघ जी पूरी तरह से मनोविश्लेषणवादी व्याख्या पर उतर आते हैं। "साइके" या मनस्तत्त्व को केंद्र में रखकर वे लिखते हैं "जिस तरह से एक पौधा फूलों को उत्पन्न करता है और उसी तरह से नैसर्गिक रूप से साइके अपने प्रतीकों की रचना करती है- उपमेयों को विलक्षण विधान देकर। यदि हम कवि के प्रतीकों और बिम्बों को काफी समय के दौरान तक परखें-जाँचें, तो हम इस मनस्तात्विक विकास का एक पैटर्न पा सकते हैं। साइकिक वृद्धि सचेतन उपायों के द्वारा नहीं होती, बल्कि यह स्वभावतः होती है। साइके एक दीप्ति गोलक- जैसी हैं जिसके केन्द्र में अहम् होता है। जब अहम् अस्तित्व और भविता के गहरे संदर्भों में उतरता है तब वह साइके से संचालित होता है। साइके में 'सामूहिक प्रयोजन' घुल-मिल जाते हैं। अंधकार, मशाल, सिन्धु, ज्योति-तरण साइके के प्रथम स्पंदन है।"

(4) इसी क्रम में आलोचक मेघ जी 'चिरन्तन नारीत्व' (इटर्नल फेमिनिन) की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो उनकी काव्य-मीमांसा की मुख्य प्रतिपत्ति के रूप में अन्य कविताओं के विवेचन में भी साथ चलती है (जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जाएगी।) इसे समझाते हुए वे लिखते हैं "चिरन्तन नारीत्व हमारे अवचेतन में संचित 'नारी' का वह

बिम्ब है जो माता, सहचरी, प्रिया, बहिन, पत्नी, देवी, अनेक नारियों आदि के रूपायनों का पुंज है। जुग ने इसे 'एनिमा' अर्थात् 'पुरुष की साइके का नारीत्व-तत्व' कहा है।

(5) मनोविश्लेषण और प्रतीकशास्त्र की सहायता से मिथक और यथार्थ का विवेचन करते हुए मेघ जी दोनों कविताओं की संरचनागत तुलना करते हुए लिखते हैं- 'शक्ति पूजा' में मिथकीय प्लाट के कई पात्र आए हैं जबकि 'स्मृति' के इने-गिने पात्र वास्तविक हैं। इसलिए विश्लेषण करते वक्त हमें तीन फलकों के प्रति होशियार रहना होगा। पहला फलक है : मूल राम-रावण संघर्ष की आर्केटाइपल विचार-वस्तु या थीम। सहोदर-चक्र के नायक-मिथक में नेता और राक्षस का संघर्ष एक आर्केटाइपल प्रतीक है जिसमें प्रशमित करने वाली प्रवृत्तियों पर अहम् की विजय का इंगित होता है। मिथकीय पटल के अनुसार सूर्यवंशी अवतार राम असुर-संहार और सुर-उद्धार करके भक्तचित्त का रंजन करते हैं। तीसरा पटल कलि के अवचेतन का है जहाँ राम, जाम्बवान आदि का मनोवैज्ञानिक प्रत्याख्यान हो गया है। वास्तव में जाम्बवान और हनुमान राम के आत्म के ही उभय मानवीयकरण हैं। जाम्बवान के रूप में अहम् का प्रौढ़ और विवेकी रूप अंकित है, तो हनुमान के रूप में आत्म का तेजस्वी और युवा रूप। यहाँ निराला ने हनुमान का नया प्रतीकीकरण कर डाला है जो आर्केटाइपल, मिथकीय और व्यक्तिगत मनोविज्ञान के केन्द्रों को मिलता है।"

(6) 'वह रहा एक मन और राम का जो न थका'- इस बहुउद्धृत पंक्ति की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या मेघ जी इस तरह देते हैं- "लौकिक मन और उदात्तीकृत लोकोत्तर संक्रमणकारी (ट्रांसडेंटल) मन। वास्तव में यह मनस्तत्व (साइके) और

आत्म (सेल्फ) का अधिकृत अधिकारी भाव है। राम बलिदान करके, गर्व का तिरोभाव करके इस मन को प्राप्त करते हैं।" तुलना में 'सरोज स्मृति' को रखकर मेघ जी यहाँ तर्क देते हैं कि "जिस तरह 'शक्तिपूजा' में हनुमान आत्म के मानवीयकरण तथा जाम्बवान आत्म के पुराचीन विवेकी-पक्ष हैं, उसी तरह 'स्मृति' में सासु निषेधात्मक नारीत्व (नेगेटिव एनिमा) है जिनसे मुक्त होने के लिए कवि का अवेचन कटिबद्ध है और हर प्रसंग में इस प्रभाव को तोड़ता है। इसी तत्व की मिथकीय पटल में अभिव्यक्ति शक्ति के द्वारा किए गए छल में हुई है।" - इस तर्क से असहमत होने कारण हो सकते हैं। लेकिन यह याद रखा जाना चाहिए कि सन् 1975 के संग्रह में संकलित इस लेख की स्थापनाएँ इन दोनों कविताओं को लेकर की गई पूर्ववर्ती आलोचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरण के लिए निराला के जीवनीकार डॉ. रामविलास शर्मा, 'साहित्य साधना' के द्वितीय खण्ड में 'सरोज स्मृति' में आंतरिक गठन की दृढ़ता का अभाव देखते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' के अंत का अपराजेय बोध डॉ. शर्मा के लिए इस कविता को अधिक महत्वपूर्ण समझने का कारण है। सन् 1972 में दूधनाथ सिंह की 'निराला : आत्महन्ता आस्था' प्रकाशित हुई। उसमें दूधनाथ सिंह ने दोनों कविताओं पर विचार किया है और दोनों को अलग-अलग कारणों से महत्वपूर्ण माना है। 'सरोज स्मृति' को वे कविता के रूप में लिखा गया 'आत्म चरित' मानते हैं, और 'राम की शक्ति पूजा' का लक्ष्य, उनके अनुसार- "आत्म सम्भवा अभिव्यक्ति" की खोज और उपलब्धि है। डॉ. नन्दकिशोर नवल, अवश्य, 1997 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'निराला - कृति से साक्षात्कार' के प्रथम खण्ड में 'सरोज स्मृति' पर लिखते

हुए बताते हैं कि “इन दोनों कविताओं (सरोज स्मृति और राम की शक्ति पूजा) का विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन भी किया है और कहा है कि ‘सरोज स्मृति’ के निराला ही ‘शक्ति पूजा’ के राम हैं। यदि इन बात में आंशिक सच्चाई भी है, तो उससे यह तथ्य सामने आता है कि कवि कभी तो अपनी कविता में अपने को सीधे अभिव्यक्त करता है और कभी स्वयं अपना ऐसा नाट्यीकरण करता है कि उसे पहचानना मुश्किल होता है।” (पृ.-158) भले ही नवल जी ने रमेश कुंतल मेघ के तुलनात्मक अध्ययन का उल्लेख उनके नाम सहित नहीं किया, लेकिन एक संदर्भ याद आता है जहाँ मेघ जी निराला की सास को नेगेटिव एनिमा या निषेधात्मक नारीत्व बताते हैं, नवल जी भी ‘सरोज स्मृति’ का पाठ-केन्द्रित विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि “सास के साथ निराला का संबंध विचित्र प्रकार का था। वे उनके प्रति आदर-भाव भी रखते थे, उनसे उपकृत भी अनुभव करते थे और उद्वेग के साथ उन्हें जवाब भी देते थे।” (पृ-176) मेघ जी की सास की भूमिका को ‘नेगेटिव एनिमा’ या निषेधात्मक नारीत्व के रूप में परिभाषित करना और उसका साम्य देवी के छल के साथ बताना बहुत तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि निराला की सास ने ही सरोज का पालन-पोषण किया था और उन्हीं की गोद में सरोज ने प्राण त्यागे थे, हाँ- वे निराला को बराबर दूसरा विवाह करने के लिए प्रेरित ही नहीं करती थीं बल्कि विवाह-प्रस्ताव जन्म-कुण्डलियों के साथ स्वीकार कर निराला पर दबाव भी बनाती थीं। ‘स्मृति’ में अपनी सास का जिक्र निराला इस तरह करते हैं-

कर स्नान-शेष, उन्मुक्त केश

सासुजी रहस्य-स्मित सुवेश

इस पर नन्दकिशोर नवल लिखते हैं- “तुलसीदास

से होड़ करने वाली इस पदावली से लगता है कि निराला अवसर पाकर संक्षेप में अपनी सास के भव्य सौंदर्य का वर्णन कर रहे हैं। डॉ. शर्मा ने उन्हें देखा था और उनके अनुसार वे अत्यंत सुंदर थीं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इस वर्णन में किंचित् विनोद-भाव भी मिश्रित है।” यहाँ प्रसंग स्पष्ट करना ज़रूरी है कि ‘रहस्य-स्मित’ के साथ सासुजी निराला से दूसरे विवाह के लिए एक प्रस्ताव पर उनकी स्वीकृति की मुहर लगवाने के संकल्प से पहुँची थीं लेकिन तब तक निराला अपनी जन्मकुंडली नहीं बिटिया के हाथ में थमा चुके थे और वह अबोध उसके टुकड़े-टुकड़े कर उनसे खेल रही थी।

रमेश कुंतल-मेघ की आलोचना-पद्धति पर चर्चा बढ़ाने से पूर्व उनके द्वारा लिखित ‘राम की शक्ति पूजा : मिथक मंत्र और नाटक का जादू’ निबंध देख लिया जाए तो इसी संग्रह में है यानी “क्योंकि समय एक शब्द है”- में। जहाँ ‘सरोज-स्मृति’ के साथ तुलना करते हुए लिखे गए निबंध में वे एक ‘निष्कर्ष’ (या उद्घोषणा) के साथ नाटकीय ढंग से आरंभ करते हैं, वहाँ इन दूसरे निबंध में वे पाठकों को साथ लेकर ‘शक्ति पूजा’ में सन्निहित मिथक मंत्र और नाटक के जादू का रहस्य खोजने (या खोलने) के लिए निकल पड़ते हैं। इसे एक ‘संश्लिष्ट कविता’ (टोटल पोएट्री) बताते हुए मेघ जी ने इसे विलक्षण रूप (यूनिक फार्म) वाली कला वस्तु माना है। उनके अनुसार कुशल नाटकीयकरण का सूत्र है- “बताओ नहीं; दिखाओ और अभिनीत करो” इसलिए इसमें काव्य और नाटक, दोनों बाखूबसूरत उभर आए हैं। फिर भी ‘शक्ति पूजा’ न तो महाकाव्य है और न ही काव्यात्मक नाटक बल्कि एक महाकाव्यात्मक कविता (एपीकल पोएट्री) के रूप में इसमें नाटकीयता की खूबियाँ पाई जाती हैं।” (पृ.-389)

नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर ‘शक्ति पूजा’ के नाट्य तत्व का विवेचन करते हुए मेघ जी

बताते हैं कि 'प्लाट' अर्थात् कथा का सुनियोजित कार्य-व्यापार में रूपायन, 'संधियों' के रूप में दिए जाने वाले विराम, स्वप्नों, फंतासियों, विवरणों, संवादों के तकनीक, वैषम्य (कंट्रास्ट) के द्वारा परिस्थिति या पात्र के आपसी विरोध, संयोग, (चांस) के द्वारा कथानक को अनुकूल या प्रतिकूल दिशा में मोड़ा जाना, छोटे-छोटे चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्सेस) का विधान आदि इसकी नाटकीयता को पुष्ट करते हैं। इसमें प्रयुक्त भ्रांतियाँ और फंतासियाँ अतिप्राकृतिक और अलौकिक आह्लाद और चमत्कार, अवचेतन और दिवास्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। पात्रों की भी दृष्टि से विचार करते हुए बताया गया है कि मिथकीय पात्रों का अवतरण अलग-अलग ढंग से किया गया है, जैसे- जाम्बवान् और विभीषण विचारपक्ष का भव्य एवं उदात्त उत्कर्ष करते हुए तटस्थ क्षेत्र में आसीन हैं, दो पात्र- हनुमान और दुर्गा कार्य के अतिरंजित क्षेत्र में, दो पात्र- रावण और सीता नैपथ्य क्षेत्र में रहते हैं। वे क्रमशः भावना-क्षेत्र का तीव्र एवं ललित उन्मीलन करते हैं। इनमें खलनायक रावण आराधना से शक्ति को सिद्ध करके उसके माध्यम से सारे वातावरण में अंधकार-धर्मी होकर हावी है। सीता विद्युत रेखा-सी कौंधकर राम में सौंदर्योदात्त लालित्य तथा धीर करुणा का अभ्युदय कराती हैं। इस तरह नायक श्रीराम के अलावा छः पात्र विचार-चरण, भावना-चरण तथा सौंदर्य-चरण की मैत्री करते हैं। संवादों का नियोजन भी ऐसा किया गया है कि वे 'विवरण-चित्र' एवं 'प्रतीक युगल' हो जाते हैं। फलतः इस कविता की नायकीयता रंगमंचीय कार्य को अन्तर्मुखी संदर्शन में तब्दील कर देती है। (पृ.-390-91)

अब बात की जाए 'मिथक' की। इस लेख का लक्ष्य ही है 'मिथक मंत्र और नाटक का जादू।' मेघ जी के अनुसार मिथकों को आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित करके ही इस महत् काव्य के जादू या सम्मोहन को 'डिकोड' किया जा सकता है। इस

संदर्भ में 'सरोज स्मृति' का उल्लेख करते हुए मेघ जी बताते हैं कि जहाँ 'स्मृति' में निराला नायक स्वयं हैं और वे पिता तथा पति रूप में आये हैं, तो उसी तनाव की सामाजिक यंत्रणा तथा आधुनिक फूहड़ता (एक्सर्डिटी) को भोगने वाले निराला ने अब 'राम की शक्ति पूजा' (1936) में राम को चुनकर उन सबको अभिव्यक्त किया है। इस कविता में राम योद्धा तथा साधक रूप में आए हैं। पहले के निरर्थक एवं हारते रहने वाले निराला के नवीन पुरुषोत्तम राम अब शक्ति के सिद्ध साधक तथा विजयी हो जाते हैं।

अपनी चर्चा में रमेश कुंतल मेघ इस कविता को नितांत समकालीन संदर्भों से जोड़ कर 'मिथकीय' काल को 'ऐतिहासिक काल' में बदल देते हैं। उनके अनुसार "यह युद्ध मिथक से विश्व-इतिहास-पटल पर अवतरित होकर मानो वर्ग-संघर्ष का व्याख्याता बन जाता है। इस युद्ध को जीतने का केवल एक ही रास्ता है: राम भी पुरुष सिंह होकर यह शक्ति धारण करें, शक्ति की एक मौलिक रचना करें तथा जब तक सिद्धि न हो तब तक समर छोड़ दें। सामाजिक विकास का यही, एक सर्वभौम नियम भी है। शाक्तों की 'शक्ति' ही विवेकानंद की आत्मशक्ति तथा अंततोगत्वा निराला की सामाजिक शक्ति में ढल गयी है। राम के अंतर्द्वन्द्व में उनका एक मन मायावरण में उलझ कर हताश हो रहा है, किन्तु दूसरा मन 'अपराजेय मानवता' की चेतना का प्रतीक है जो तात्कालिकता तथा संकीर्णता का अतिक्रमण करके अनुभव को दर्शन एवं चिंतन में रूपायित कर सकता है। यही ऐतिहासिक चेतना है, यह मनुष्य का बौद्धिक ज्ञान और अनुभव यात्रा है।

इस लेख में मेघ जी माना है कि 'राम की शक्ति पूजा' के मिथक का मूलधार तुलसी या वाल्मीकि के महाकाव्य न होकर बँगला की 'कृतिवासीय रामायण' है। दोनों की तुलना करते हुए 'शिव महिम्नस्तोत्र' का भी संदर्भ लिया है। इन सब पर विचार करते हुए रमेश

कुंतल मेघ का निष्कर्ष है कि "राम एक त्रासद नायक होने से बचकर सुखान्तिकी के नायक की तरह आनंद, मंगल और विजय की फलागमत्रयी को प्राप्त कर लेते हैं। ... इस तरह नायक मिथक (हीरो मिथ) में मिथक एवं इतिहास एवं समाज शास्त्र-सभी के प्रबोधों का सामंजस्य हो गया है। अतः मिथकीय स्रोत वाली 'शक्ति पूजा' का रचना-संसार सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक गहराइयों में भी गोताखोरी करता है।" (पृ०-396)

9सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' के साथ 'तुलसीदास' पर भी लिखा लेख इसी संग्रह में है साथ ही 'जागो फिर एक बार' और 'तोड़ती पत्थर' पर भी एक-एक लेख हैं, पर विस्तार-भय से इन पर चर्चा नहीं की जा सकती है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य साधना' के पहले खण्ड में निराला के जीवन विषयक विवरणों के साथ उन मनःस्थितियों को भी संदर्भित किया है जिसमें इन रचनाओं का प्रणयन हुआ। बेटी सरोज की मृत्यु जिन परिस्थितियों में जिन कारणों से हुई थी वे छिपे नहीं थे... कविता खुद अपनी बात कहती है लेकिन इसे 'कहलाने' के लिए जो निरावेग मनःस्थिति चाहिए उस पर प्रकाश डालते हुए शर्मा जी बताते हैं- "निराला ने मन की सारी ताकत बटोरकर अपने को दुःख से अलग किया, खुद से अलग किया, खुद को देखा-दुःखी, जर्जर, निराश और अपना यह रूप देखकर उनका मन सजग हुआ। अन्तस में जमे हुए दुःख को निराला ने सहेजना शुरू किया, उसे निहारते-समेटते निराला अनजाने ही उसे मूर्त रूप देने लगे। उन्होंने कविता लिखी : 'सरोज स्मृति।' (पृ-266) दिन बीतते गए। ... फिर एक और मृत्यु - प्रेमचंद की। शर्मा जी बताते हैं "रोगशय्या पर पड़े हुए निर्बल प्रेमचंद ने निराला की चेतना के उन स्तरों को छुआ जो अब तक सोये-से थे, जिनसे अभी तक निराला के मन का तार न जुड़ा था। एक

झटके-से उन्हें अपने भूत, भविष्य, वर्तमान-तीनों काल का जैसे एक साथ साक्षात्कार हो गया। अंधकार केवल अंधकार, आगे पहाड़, पीछे समुद्र, मनुष्य कहाँ जाए, कहाँ से शक्ति पाए, चारों ओर विरोध-कोलाहल... आकाश भी जैसे पराजित मनुष्य पर अट्टहास कर रहा हो! धिक्कार है इस जीव को जिसमें पराजय ही हाथ लगी। पर निराला साहित्य लिखना छोड़ नहीं सकते, हिंदी वाले घेरकर आक्रमण करें पर हिंदी से नाता तोड़ नहीं सकते, प्राण देकर साधना में लगे रहना है; मृत्यु का वरण करते हुए भी साध्य तक पहुँचना है। (पृ०-287-288) यह है रचना के जन्म की मनःस्थिति। फिर शर्मा जी लिखते हैं- "निराला ने 'राम की शक्ति पूजा' पूरी की। वर्षा के बादल उड़कर कहीं दूर चले गए थे। गंगा के थिराये हुए जल में शरद का नीला आकाश दमक उठा था।" आठ अक्टूबर को प्रेमचंद के प्राण उनके जर्जर अस्थिपंजर को छोड़कर कहीं दूर उड़ गए। दस अक्टूबर को 'भारत' में 'राम की शक्ति पूजा' प्रकाशित हुई। (पृ०-289)

...भावोच्छवसित शैली में लिखे गए इस प्रसंग से- इस लेख के आरंभ में दी गई मेघ जी की खोज-शैली का साम्य बैठता है कि "साहित्य का शब्द-संसार, कृति का अनुभव संसार तथा समाज का घटना-संसार-तीनों का समन्वय सही आलोचना के लिए जरूरी है।"

लेकिन तीनों घटकों में सम्बन्ध बैठाना सहज नहीं है। रचना की व्याख्या में रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, समय और समाज को जोड़ने में 'सरलीकरण' का खतरा बराबर मौजूद रहता है। मेघ जी इस सरलीकरण से बचते हैं लेकिन उनका अपना 'अप्रोच' बहुत जटिल, बहुस्तरीय और बहुआयामी है। यह "अप्रोच" अन्तर्ज्ञानानुशासनात्मक है। इसमें मनोविज्ञान, मिथकशास्त्र, इतिहास, राजनीति, नृवंशशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और दर्शन का समन्वय है। एक तरह से यह अप्रोच पॉज़िटिव या विधेयवादी भी बन जाता है

॥ मूल्यांकन ॥

क्योंकि मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े हुए रमेश कुंतल मेघ 'रचना' को उसके परिवेश के साथ जोड़कर देखते हैं। 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' का अन्तःसंबंध, 'शक्ति पूजा' की नाटकीयता का शास्त्रीय विवेचन, उसकी मिथकीय और आधुनिक संदर्भ-योजना, काव्य-स्थापत्य और संरचना के विवेचन में मेघ जी का वांछित- 'ज्ञान का समाजशास्त्र' और 'ज्ञान का साहित्यशास्त्र' तर्क-प्रबल होकर उद्घाटित होता है, कई तरह की विचार-सरणियाँ सामने आती हैं, 1970 के दशक के उद्घाटित मेघ जी का आलोचना-विवेक और उनके बाद की रचनाओं - जैसे सौन्दर्यशास्त्र पर लिखे गये ग्रंथ, 'देह-भाषा' और 'मिथक सरित्सागर' जैसी विराट सृजनशीलता के प्रस्थान-बिन्दु इन दो लेखों में दिखाई देते हैं।

अंत में वो एक बात याद आती है जो पहले लेख की शुरुआत में मेघ जी ने अपने प्रेरणा-सूत्र के रूप में बताई थी कि लियोनार्दो-द-विंची के चित्रों के आधार पर उनके शैव की जीवनी और सम्पूर्ण चरित्र

उद्घाटित कर दिया था सिग्मंड प्रायड ने और "मैं यहाँ इन दो रचनाओं का मुकाबला करके निराला के चारित्र्य की पेशकदमी करूँगा" - अपनी इस प्रतिज्ञा का भरसक पालन मेघ जी ने किया है, लेकिन अंत में अपना निष्कर्ष देते हुए स्वीकार किया है कि "निराला छायावाद युग के विद्रोही मानव हैं, लियोनार्दो-द-विंची रिनैसाँ युग के महामानव हैं जो चित्रकार, जीवशास्त्री, शरीर-रचनाशास्त्री, इंजीनियर आदि भी थे। अतः दोनों की तुलना अनैतिहासिक है।" बेशक - इस आत्म-स्वीकृति में मेघ जी ने इतिहास - याने देश-काल की सीमा के साथ-साथ कला-कृति के विश्लेषण के लिए विभिन्न ज्ञानानुशासनों के लिए गए विधेयवादी 'अप्रोच' की सीमा को भी स्वीकार किया है। कविता की मीमांसा के लिए विभिन्न शास्त्रों का उपयोग कुछ नए तथ्य सामने अवश्य लाता है, लेकिन इस सारे 'तुमुल कोलाहल करमह' में 'कविता' ही कहीं पीछे छूट जाती है- यह और बात है!

सन्दर्भ सूची

1. 'क्योंकि समय एक शब्द है' - रमेश कुंतल मेघ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1975
2. 'निराला की साहित्य साधना', खण्ड-1, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 1969
3. 'निराला : आत्महन्ता आस्था' दूधनाथ सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-211001, प्रथम संस्करण : 1972
4. 'निराला - कृति के साक्षात्कार', नन्दकिशोर नवल, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली - 110091, प्रथम संस्करण : 1997

9391092053
प्लॉट - 311, गुलमोहर पार्क, लिंगमपाल
हैदराबाद - 500019

रमेश कुंतल मेघ और मनखंजन किनके : कुछ नोट्स

सेवाराम त्रिपाठी

रमेश कुंतल मेघ जी पर लिखना किसी के लिए सुविधाजनक नहीं हो सकता। उनका कृतित्व विपुल है। उनका जीवनबोध और मार्क्सवादबोध, सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों से लैस है। भाषाशास्त्रीय चिंतन भी उन्होंने अकूत और विपुल किया है। वे अद्भुत भाष्यकार और विशिष्ट और विश्वास के साथ अनेक छोरों को छूता है। वे साहित्य की जटिल समस्याओं से अनवरत जूझते भी रहे हैं। सौंदर्य प्रतिमान, भाषा चिंतन और मार्क्सवादी अवधारणाओं से उनकी आलोचना परिपुष्ट और समृद्ध है। ज़ाहिर है कि वे अपनी आलोचना में जिस भाषा का इस्तेमाल करते हैं वह निजी भी है और अति विशिष्ट भी है। जिसे सामान्य रूप से समझ पाना सभी के लिए सहज और सरल नहीं है बल्कि काफ़ी मुश्किल आती है। ध्यातव्य है कि उसका एक अलग मुहावरा भी है और एक विशिष्ट कोना भी है। उनके यहाँ विमर्श का वैभव है, लेकिन उनके साथ विमर्श करना आसान नहीं है। उनकी आलोचना की धुरियों को पहचान लेना भी आसान नहीं है। एक विशेष अर्थ में कहा जा सकता है कि मेघ जी के पाठकों को उनके लेखन से गंभीरता, जटिलता और वैचारिक खरेपन का अनुभव होता है। उनकी बौद्धिक चेतना और क्षमता किसी भी सूरत में सरल नहीं है। जो उन्हें पढ़ता है इसे अनुभव करता है। यानी “जाने बिन न होई परतीता” की तरह। अपनी आलोचना में वे भारतीय चिंतन और पाश्चात्य चिंतन का ऐसा संयोजन करते हैं कि देखते बनता है। इसे दुर्लभ संयोग ही माना जाना चाहिए। अरुण माहेश्वरी ने ठीक ही लक्षित किया है कि— “उनकी भाषा ही उन्हें अलग और अनन्य बनाती है, आलोचना की मूलधारा की पाँत से कुछ इस प्रकार

भिन्न बनाती है कि उनके कामों के सम्यक मूल्यांकन तक में एक बाधा उत्पन्न होती है। भाषा का स्वरूप ही उनके लेखन के अर्थों में बाधा बनकर उसकी लाक्षणिक विशिष्टता बन जाता है, आलोचक और आलोचितक तक के बीच में फर्क पर विचार की एक नई चुनौती पेश करता है।” (बनास जन-फरवरी-2022-पृष्ठ-216)

उनके लेखन की विराट संपदा और आयामों को विधिवत आत्मसात करना और उन्हें विश्लेषित करना भी काफ़ी कठिन और जटिल काम है। इस मुद्दे को रखने के पीछे यही धारणा है उनको हर हाल में गंभीरता से लिया जाए। यदि मीरा सिन्हा जी का विशेष आग्रह और ज़ोर नहीं होता तो शायद इस ओर मैं कदम ही नहीं बढ़ा पाता। एक हिचक तो अब भी है। लिख तो रहा हूँ लेकिन कुछ गहरे संकोच के साथ कुछ अधकच्चा-सा और कुछ अधपका-सा। शुरुआत प्रदीप सक्सेना को लिखे मेघ जी के एक पत्र के अंश के साथ कर रहा हूँ। यह पत्र लिखा गया था- 25/08/2002 को। इसमें मेघ जी की चिंताओं के आकाश को भी विशेष रूप से अनुभव किया जा सकता है। इसमें आलोचना की वास्तविकता और हालात का स्पष्ट रूप से अंकन हुआ है। वे लिखते हैं— “हिंदी संसार सर्वत्र एक जैसा है। चावल, दाल, तिल और कंकड़ों का मिश्रण। एक भयानक तथा दर्दनाक स्थिति है कि अस्मिता मिट गई है। आत्मरति में लेखक मंत्रमुग्ध हैं, तथा चारों ओर घटियापन-अनगढ़पन के माहौल में सभी लोग प्रतिभाशाली होने के मुखौटों से लैस हैं। यह स्थिति लगभग सब जगह है। व्यक्तिवाद और उपभोक्तावाद में यही नियत होती है : हर रचना और

॥ मूल्यांकन ॥

संस्कृति 'वस्तु' बन जाती है तथा उपयोग की हेतु। तुम जैसे लोग आत्मदीप जलाए संघर्ष करते रहते हो। मैं भी तो यही, ऐसा ही करता आ रहा हूँ।" (बनास जन - फरवरी 2022 - पृष्ठ-287)

मेघ जी से एक मुलाकात का जिक्र करना चाहता हूँ। शायद 1996 या 1997 में मेघ जी और प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित (लखनऊ), अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा में पीएच.डी. की मौखिकी के लिए आए थे। प्रो. कमला प्रसाद तब वहाँ के हिंदी विभागाध्यक्ष हुआ करते थे। हुआ यह कि उनका परिवार गाँव गया हुआ था। इस दौर में वे मेरे यहाँ ही खाना खाया करते थे। मैं अपने कॉलेज टी.आर.एस. में था। और विश्वविद्यालय के एम.ए. हिंदी की प्रीवियस और फाइनल की एक-एक कक्षा को अपने कॉलेज के बाद पढ़ाया करता था। क्योंकि कमला प्रसाद जी का आग्रह निर्देश दोनों था। उन्होंने कहा कि मौखिकी हो गई है। इन दोनों अतिथियों को अपने आवास ले जाइए। मुझे विश्वविद्यालय में कुछ काम है। देर से ही आ पाऊंगा। तब तक इन्हें खाना खिलाइए और इनसे खूब बातें भी करिएगा। ऐसा ही हुआ। वहाँ मेघ जी से सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों और उनकी अवधारणाओं के बारे में कुछ चर्चा हुई थी।

याद कर रहा हूँ कि पहली बार कुछ शुभचिंतकों ने मेघ जी की दो किताबों का जिक्र किया था। वे थीं— तुलसी: आधुनिक वातायन से (1973) और मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौंदर्य-सामाजिक भूमिका (1967)। लाइब्रेरी से पुस्तकें तो ले आया लेकिन उलझन यह आई कि इन्हें कैसे समझा जाए। यह शायद 1974 का वर्ष था। दोनों किताबें तुलसी और प्रसाद की कामायनी को समझने में आधुनिक दृष्टि से सहायता तो करती थीं लेकिन उनकी रचनात्मकता, गड़िन भाषा और सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यांकन पद्धति एक विशेष अवरोध भी पैदा करती थीं। कामायनी

पर एक महत्वपूर्ण काम मुक्तिबोध ने भी किया है। पुस्तक है- 'कामायनी: एक पुनर्विचार'। मेघ जी को पढ़ने वाले भी हाथ खड़ा कर देते और कहते थे कि हमारी हिम्मत ही नहीं है। कुछ अध्यापक अपनी मनोसंरचना के आधार पर मदद करते थे लेकिन मेघ जी उनके लिए भी अलक्षित पहली ही जैसे साबित होते थे। बहरहाल पढ़ते-पढ़ते ही तो मेघ जी के लेखन के कुछ धागे तो खुले। सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों, प्रतिमानों पर और आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं से टकराने वाले, मुठभेड़ करने वाले हिंदी संसार में तीन ही लेखक-विचारक मेरी समझ, जानकारी और स्मृति में सामने हैं- रमेश कुंतल मेघ, कुमार विमल और राजेश्वर दयाल सक्सेना। कुमार विमल ने जो पुस्तकें लिखीं, वो सौंदर्य शास्त्रीय मूल्यांकन की वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में हैं जैसे सौंदर्यशास्त्र के तत्व, छायावाद का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन तथा मूल्य और मीमांसा आदि। सक्सेना जी बाद में राजेश्वर सक्सेना के नाम से हिंदी संसार में जाने पहचाने गए। लगे हाथ उनकी किताबों का जिक्र करना मुझे ज़रूरी लगता है क्योंकि— इनका मूल्यांकन बहुत अल्प हुआ है। इनकी किताबें हैं— शिव सौंदर्यबोध और काव्य दर्शन, उत्तर आधुनिक सौंदर्यशास्त्र और द्वन्द्ववाद, उत्तर आधुनिकता और द्वंद्ववाद। इन तीनों को पढ़ने के लिए पाठक के पास अपार धैर्य और क्षमता होना लाजिमी है। अन्यथा पाठक भी बार-बार छिटक जाते हैं। उनसे तो बड़े लेखक कहे जाने और माने जाने वाले भी बचना चाहते थे। विष्णु खरे और राजेंद्र यादव इसके उदाहरण हैं। मेघ जी का तो कहना ही क्या? वे इस पद्धति के मेरी दृष्टि में शिखर हैं। मेघ जी का लेखन और रंज बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य को लेकर चलता है। उन्होंने सौंदर्यशास्त्र और आधुनिकता पर लिखा ही है, भाषा शास्त्रीय चिंतन भी नए ढंग से किया है। उसी के साथ मार्क्सवादी अवधारणाओं को

बहुत निकट से जानने की कोशिश की है। उसका उल्लेख करना आवश्यक है। सौंदर्य शास्त्रीय प्रतिमानों का चिंतन विपुल मात्रा में है और काफी जटिल भी। जटिल इसलिए कि वे अपनी भाषा को सहज रूप में पेश नहीं कर सके। यही नहीं बल्कि हिंदी आलोचना में उन्होंने अनेक परिभाषिक शब्दों का भरपूर इस्तेमाल किया है जिसे यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने गढ़े हैं। उनके इंटरव्यू का उल्लेख करना आवश्यक है। वे कहते हैं— “मैंने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इतने अधिक पारिभाषिक गढ़े हैं और जब मेरे पारिभाषिक पकड़ लिए जाएंगे तो... मेरी भाषा कठिन नहीं लगेगी, रुकावट पारिभाषिकों को लेकर ही है, मैं ऐसा मानता हूँ। मैं एक ऐसी भाषा का इस्तेमाल करता हूँ जो स्टेप बाय स्टेप चलती है— पाइथागोरस की थ्योरम या थर्मोडायनेमिक्स की तरह। उसे समझना कठिन नहीं है। पर सामान्य हिंदी पाठक अंग्रेजी पर्यायों को अलग-अलग जानता हुआ भी हिंदी शब्दों को लेकर उलझ जाता है और दोष मेरे ऊपर आता है कि मेघ कनफ्यूज कर रहे हैं या हो गए हैं।”

मेघ जी के पाठक और लेखक के सरोकारों, उम्मीदों और लक्ष्यों की दुनिया विपुल और जटिल प्रक्रिया से संभव हुई है। वे न जाने कहाँ-कहाँ डुबकी लगाते हैं और न जाने क्या-क्या खोजते हैं? इसका सहज ही अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने कहा है— “हमारा बोध आधुनिक है, हमारी यथार्थता आध्यात्मिक नहीं है, हमारी रुचियाँ तथा मनोविज्ञान कुलीनता तथा संविदविश्रान्ति पर आश्रित न होकर द्वंद्व और संघर्ष पर आश्रित है अतः हमारा भाव लोक बदल गया है। अतः हमारी आधुनिक भाषा के सौंदर्यतात्विक गुण भी भिन्न होंगे।” (कलाशास्त्र और मध्यकालीन भाषिकी-क्रांतियां-पृष्ठ-11)

उनकी अनेक किताबें हैं लेकिन मैं सौंदर्यशास्त्र और आधुनिकता से संबंधित कुछ पुस्तकों का उल्लेख

कर रहा हूँ। जैसे— मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध (1969) अथातो सौंदर्य जिज्ञासा (1977) साक्षी हैं सौंदर्य प्राश्निक (1980), सौंदर्यमूल्य और मूल्यांकन (1975), शील और सौंदर्य (2007), मिथक से आधुनिकता तक (2008) आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण (1960), कलाशास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी-क्रांतियां (1975), विश्व मिथक सरितसागर (2015), मानव देह और हमारी देह भाषाएं (2015) आदि।

मेघ जी और राजेश्वर जी का रिश्ता मार्क्सवाद और उसकी असलियत और अवधारणाओं से भी लगातार रहा है। दूसरी जटिलता है इनकी वैचारिक परिपक्वता और एक बेहद कठिन और गड़बड़ भाषा का। जिसके आसपास रहकर ही ये सोचते, विचारते, पारायण करते और मूल्यांकन करते हैं। अपने वैचारिक और जीवन जगत के वस्तुगत मूल्यों को प्रस्तुत करने के लिए जो अतिविशिष्ट और निजी शब्दावली रखते हैं वो किसी भी प्रकार से सहज नहीं कही जा सकती। इसकी गंभीरता और जटिलता ही इसमें सबसे ज्यादा अवरोध पैदा करती रही है। मेघ जी के लेखक और आलोचक की दुनिया अंतर्ज्ञानानुशासनों के साथ मिलकर यात्रा करते हुए अपना स्पेस खोजती है और अपनी सौंदर्यदृष्टि व्यवहार पक्ष की प्रक्रिया से वैचारिकी निर्धारित करते हुए मूल्यांकन करती है।

रमेश कुंतल मेघ पूरी तरह से सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्नों और एक कठोर मार्क्सवादी अध्येता के रूप में जीवन की जद्दोजहद, समस्याओं से मुठभेड़ करते रहे हैं। तथ्य यह है कि उनका विराट लेखन मेरी समझ में किसी तपस्या की तरह ही मालूम होता रहा है। धीरे-धीरे मेघ जी की कुछ और पुस्तकें पढ़ता रहा जैसे साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा आदि। मेघ जी की समूची कहन प्रणाली किन्हीं आवृत्तियों में छिपकर वैचारिकता के तमाम छोर छूती

॥ मूल्यांकन ॥

हुई अनुभव की जा सकती है। मेघ जी का लेखन क्षेत्र सौंदर्यशास्त्रीय, मिथकीय अवधारणाओं, भाषाशास्त्रीय और मार्क्सवादी मूल्यों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अवस्थित है। वे जीवन विवेक और सांस्कृतिक विवेक के साथ यात्रा करते हैं, कोशिश यह होती है कि कोई कोना छूट न जाए। मुझे लगता है कि किसी लेखक के लिए यह बड़ी चुनौती भी है और एक जोखिम भी। संस्कृति को देखने-पहचानने के विभिन्न रूप हैं जैसे नायपॉल ने भारत की संस्कृति को घायल बताया था। मुझे इस संदर्भ में निर्मल वर्मा की कही बातें स्मरण हो आईं— “मनुष्य का मिथक संसार और उसकी जीवन-प्रणाली दो मृत कठघरों में विभाजित हो गए। दोनों के बीच घाव की खरोंच अब भी मौजूद हैं। नायपॉल ने भारतीय संस्कृति को घायल संस्कृति माना है। काश, वह इस घाव के पीछे इतिहास के उस अस्त्र को भी देख पाते जिसका लोहा अब भी उसकी लहू-लुहान आत्मा के भीतर गड़ा है।” (कला का जोखिम - राजमकल प्रकाशन, 2001-पृष्ठ-40)

रमेश कुंतल मेघ जी की एक पुस्तक है- ‘मन खंजन किनके’ जो पहली बार 1985 में प्रकाशित हुई थी और उसका दूसरा संस्करण 1996 में प्रकाशित हुआ था। उसी के परिप्रेक्ष्य मनोभूमि और आयामों पर कुछ बातें कह रहा हूँ। यह पुस्तक मध्यकालीन साहित्य-संस्कृति और मूल्यांकन से संबंधित है। यही नहीं वह साहित्यिक-सांस्कृतिक वैभव और विरासत का गंभीर अध्ययन और पड़ताल भी करती है और हमें विचार-विमर्श के लिए उकसाती और आमंत्रित करती है और उस दौर के अनेक अनछुए बिंदुओं पर सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिमानों और विभिन्न प्रवृत्तियों पर उठ रहे सवालों को विस्तार के साथ चर्चा को केंद्र में करती है। ज़ाहिर है कि मेघ जी ने व्यवस्थित तरीके से कई विवादित सवालों को विस्तार से रेखांकित किया है। इस किताब के तीन अनुभव हैं। पहले अनुभव का शीर्षक है- कला-

क्रीड़ा और काम-लीला। दूसरा है- अचानक सूर के सामने और तीसरा अनुभाग है- मूल्यांकन की समस्याएं।

अपने प्राक्कथन में मेघ जी एक महत्वपूर्ण सवाल उठाते हैं- “भारतीय मध्यकाल में सिद्धों और योगियों की भूमिका बेहद जटिल तथा महत्वपूर्ण रही है। मैक्स वेबर, आर्थर एवलॉन से लेकर गोपीनाथ कविराज, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांस्कृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, धर्मवीर भारती तक के द्वारा उनके महत अवदान को व्याख्यायित करने के प्रयास हुए हैं। समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र, लोकधर्म, कामशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान, प्राद्यौगिकी आदि के हाशियों पर बारंबार समझा जाता रहा है।” (मनखंजन किनके) मेघ जी कहीं भी ठहरने वाले आलोचक नहीं हैं, बल्कि हर तरह की वास्तविकताओं का संधान करने वाले और उसे एक निश्चित दिशा देने वाले और निर्देश करने वाले सुधी आलोचक भी हैं। वे किताब की अवधारणाओं को अपने तर्क और स्पष्ट करते हैं- “ऐतिहासिक भौतिकवाद का दर्शन इतिहास और आधुनिकता में, अतीत और समसामयिकता में विच्छिन्नता तथा पृथक्ता को अस्वीकार करता है। इस दृष्टि से मेरे ये निबंध समय-समय पर लिखे गए हैं। इनमें इतिहास की समकालीन व्याख्या की प्रवृत्ति परिलक्षित होती चलेगी-पुनरुत्थान के बजाय प्रगति की।” (प्राक्कथन)

मेघ जी की एक खासियत यह भी है कि पहले वो संतुष्ट होना ज़रूरी समझते हैं और उसके बाद पाठक को भी आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि- “परंपराएं वही हैं जिनमें कालगत दीर्घता हो, इस दीर्घता के फलस्वरूप उनमें अतीत के प्रति बौद्धिक आसक्ति और लोक-अनुभवों के कारण रुढ़ियां हों, इन रुढ़ियों के नियंत्रण के कारण मौलिक प्रतिभाओं की नवीन दृष्टि भंगिमा हो और अंततः उन्होंने उन्हें ग्रहण करने के लिए व्यापक अव्यस्त

॥ मूल्यांकन ॥

प्रतिक्रिया (स्टॉक रिएक्शन) हो। इन्हीं चार तत्वों के समावेश से कोई परंपरा कुछ मायने ग्रहण करती है और इन्हीं के कारण किसी परंपरा में अंतर्विरोध भी उत्पन्न होते हैं, जिससे परंपराएं प्रगतिशील भी हो जाती हैं और प्रतिक्रियावादी भी।” (मनखंजन किनके-पृष्ठ-242) इस महती परंपरा के मूल्यांकन के संदर्भ में मेघ जी ने एक और महत्वपूर्ण बात को रेखांकित किया है— “आजकल के इंसानों की जिंदगी, उनके समाज, उनकी सामाजिक व्यवस्था और आधुनिक सड़कों की व्यस्तता, फैक्ट्रियों के लौह घोषों तथा खेतों के ट्रैक्टरों और जन जीवन के संघर्षों के बीच से पल्लवित, पुष्पित, विकसित और परिष्कृत होने से ही वह महान चुनौतियों को झेलकर शिवत्व से अभिषिक्त होती है।” (वही-पृष्ठ-242)

मेघ जी कलाक्रीड़ा और काम लीला को मध्यकालीन फेनोमिना की कुंजी मानते हैं। वे सोचते हैं कि इसी चाबी से सब कुछ खुलता है। उनके शब्द हैं— “जिनके लगाते ही परवर्ती भक्तिधारा और रीतिकाल के अनेक कक्ष/पक्ष आलोकित हो उठते हैं। हम इस उदघाटन को कामायनी की श्रद्धा की मुस्कानों तक ले आए हैं।” (प्राक्कथन) मेघ जी ने कलाक्रीड़ा और काम-लीला को सिद्धों और योगियों के साथ जोड़ा है। उसी के कलेवर में उस कालखंड के वैभव और ऐश्वर्य को थाहने की कोशिश की है। ऐतिहासिक शक्तियों के द्वंद्व को सिद्ध-सामंत की धुरी में देखा है। सिद्धों के सहज भोग की प्रतिक्रियाओं को शैव हठयोगियों की सहज समाधि के संबद्ध होते हुए अनुभव किया है। दूसरा अनुभाग अचानक सूर के सामने है। ज़ाहिर है कि सूरदास ने कृष्ण के बाल रूप से आगे जाकर उनके युग, मार्ग और रोमांचक निजंधरों तक जोड़ा है। जिसमें लोकजीवन और अभिजात-संस्कृति के द्वंद्व पुरुष को व्याख्यायित किया है। इसमें सूर का काव्य रथ भी है और जशोदा माता और आंगन से विपिन

तक नाचता-खेलता दैवी शिशु कृष्ण है। कृष्ण की अनिर्वचनीय लीलाओं का संसार और सांस्कृतिक नृत्य का शास्त्रीय रूप भी है। कृष्णवार्ता के संदर्भ और प्रस्थानक भी हैं।

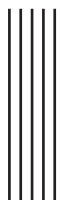
तीसरा अनुभाग मूल्यांकन की परंपराओं से संबंधित है। जिसमें मूल्यांकन को सांस्कृतिक अनिवार्यता के सिलसिले में विश्लेषित किया गया है। मूल्यांकन कोई सामान्य टिप्पणी भर नहीं है बल्कि वो है जिनको कायदे से देखा-परखा नहीं गया है। और न विधिवत उनकी रचनात्मकता, सक्रियता और छवियों की तलाश और तराश भी नहीं हो पाई थी, वे ही मुख्यतः केंद्र में हैं। मूल्यांकन वस्तु सापेक्ष भी होना चाहिए और उनके प्रतिमानों का बारीकी से इस्तेमाल भी। क्योंकि मूल्यांकन की सांस्कृतिक प्रक्रिया परस्पर स्पर्धा से ही संभव हो पाती है। मूल्यांकन के लिए उच्चतर मूल्यों, नैतिक मूल्यों के साथ ज़िम्मेदारी के साथ मिलकर उसके वास्तविक परिप्रेक्ष्य हासिल किए जाते हैं। कुछ ऐसे सवाल और संदर्भ होते हैं कि हाशियों में पड़े मुद्दों को उठाया जाता है और उसकी हैसियत की खोज के साथ उनका प्रतिपादन भी किया जाता है। और यही नहीं उनके महत्व का रेखांकन भी होता है। युगों में प्रचलित सांस्कृतिक मूल्य संवेदनाओं और कलात्मक परंपराओं के साथ समय की नज़ाकत जद्दोजहद देखते हुए शिलाओं में यात्रा करते हैं। यह एक सामाजिक सांस्कृतिक दायित्व भी है और विशिष्ट धरोहर भी। इस मूल्यांकन की खासियत यह है कि इसमें मेघ जी की निष्कपटता की महती भूमिका भी है।

साहित्य कोई विस्तृत आसमान और धरती भर नहीं है बल्कि साहित्य की अनेक समस्याएँ हैं। उसके विभिन्न दृष्टिकोण हैं। विभिन्न प्रवृत्तियाँ और सोपान हैं। वह अनेक खंदक-खाइयों, पर्वत-शिखरों, विस्तृत ज़मीनों, पठारों, दलदली इलाकों और पेचीदा प्रक्रियाओं से गुजरते हुए यात्रा करता है जूझता है। कई प्रकार

॥ मूल्यांकन ॥

यथार्थों से मुठभेड़ करता है। इन्हीं में से रास्ता बनता है। इसीलिए वह समाज का दर्पण माना जाता है। वह समाज के विभिन्न क्षेत्रों, अवयवों को कई प्रकार से देखता है और उसकी छानबीन भी करता है। सच और झूठ हमारे जीवन के ही पहलू हैं। सच्चाई तो सच्चाई है जैसी होती है। वह अलग क्षेत्र हैं या यूँ कहें कि सच-जैसा कोई दिखाई देता है। कभी-कभी वो सच नहीं भी होता। लेनिन की सुप्रसिद्ध रचना है— ‘मैटीरियलिज्म एंड इंपीरिओ क्रिटिसिज्म’ में किसी शाश्वत और निरपेक्ष कांसेप्ट या अवधारणाओं का खण्डन किया है। मेघ जी ने आलोचना के लिए आलोचना नहीं लिखी बल्कि साहित्य में पनप रही गूढ़ प्रवृत्तियों को उजागर किया है। ज़ाहिर है कि रचना या आलोचना जीवन के विविध अंतर्विरोधों, वस्तुगत संदर्भों के यथार्थ का ही अंकन है और उसमें सुधार के विस्तृत आयाम स्थापित होने की अपार संभावनाएं हुआ करती हैं। साहित्य की अनगिनत समस्याएँ हैं। साहित्य का एक मोटा-मोटी रूप है और उसकी कई धाराएँ/स्थापनाएँ भी हैं। ज़ाहिर है कि सिद्धांत को

व्यवहार से कसा जाता है। आलोचना के सामान्यीकरण के बरक्स मेघ जी ने आलोचना के विशिष्टीकरण पर ही ज़ोर दिया है। उनका कार्यक्षेत्र साहित्य का समाजशास्त्र एवं साहित्यालोचन के आलोचना सिद्धांत, कला दर्शन और सौंदर्यशास्त्र, मिथकायन, भारतीय कला, देह भाषा और आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता भी है। और जिस ख़ास पद्धति, शब्दावली और लहज़े में मेघ जी ने काम किया है वो कठिन ही नहीं बल्कि दुर्लभ है। प्रदीप सक्सेना के शब्दों में कहा जा सकता है— “डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने एक सीमा तक मार्क्सवादी चतुष्कोटि के भीतर रहकर साहित्य और परंपरा की मिथकीय व्याख्या की है। इसमें वह इतने हाशिए ढूँढ़ते हैं कि विवेचन भरा-पूरा मगर भारावनत हो जाता है। तथापि वह आकर्षक है और आलोचना की मारधाड़ से परे जाकर वह नतृत्वशास्त्रीय-समाज शास्त्रीय मीमांसा का एक नया प्रारूप (मॉडल) पेश करता है, जिसका लक्ष्य वर्गवर्णविहीन समाज की पुनर्रचना है।” (पहल- मार्क्सवादी आलोचना विशेष अंक : 64-65, जून-2000)।



7987921206
रजनीगंधा, 06, सिल्पी उपवन
अनंतपुर, रीवा (म.प्र.) 486002



मिथकों की कालोत्तीर्ष गोष्ठी - विश्वमिथकसरित्सागर

- रंजना अरगडे

बचपन से लेकर युवा अवस्था में आते-आते मैंने कई बार साईकल सीखने की कोशिश की (पर पूरी तरह सफल नहीं हो सकी) अंत तक या तो किसी ऊँची जगह-सीढ़ी जैसा का सहारा ले कर बैठ पाती या कोई बस मेरे बैठने तक पकड़ भर ले - इतनी कसक तो रह ही गई। हाथ तो कई बार तुड़वा लिए पर साईकल पूरी तरह से सीख न सकी- ऐसे ही इस किताब पर लिखने की मेरी कोशिश समझिए। पता नहीं यह कौनसवीं कोशिश होगी मेरी कि मैं रमेश कुंतल मेघ के “विश्वमिथकसरित्सागर” के विषय में लिखने बैठी हूँ। कथासरित्सागर की तर्ज पर बना यह शीर्षक आपको एक मिथक में से दूसरे मिथक में ले जाता है। यह बात तुरंत मेरे बचपन में पढ़ी पुस्तक “कथासरित्सागर” से मुझे सीधा जोड़ गई। फिर यह असल में संवाद स्वरूप है। अभी इसमें केवल लेखक बोल रहा है और वह पाठक को संवाद में शामिल होने का निमंत्रण देता है। एक लेखक अपने अनजान पाठक से बात कर रहा है। वह नरेट नहीं कर रहा, संवाद कर रहा है।

“विश्वमिथकसरित्सागर” रमेश कुंतल मेघ का पहला “हंसगान” है। दूसरा “हंसगान” है “मानवदेह और हमारी देहभाषाएं।” इस बार जब मैं लिखने बैठी हूँ तो सबसे पहले मुझे लगा कि मुझे अपने आप से यह प्रश्न करना चाहिए कि क्यों मैं इस पर नहीं लिख सकी अब तक? अगर यह लेख पूरा हो जाता है तो। यह मान लेना चाहिए कि अब तक न लिख सकी इसका कारण यही है कि मैं इन दोनों ग्रंथों को पढ़ने से पहले ही इनके प्रेम में पड़ गई थी। और पढ़ने के बाद मैं इनमें और अधिक डूबती चली गई। एकदम तल तक पहुँच गई हूँ। इन दोनों पुस्तकों पर पूरी तरह लिख लेने का एक अर्थ यह भी है कि पढ़ और लिख लेने के बाद आप इनसे मुक्त हो जाएंगे। शायद यही

उन अनेक कारणों में से एक कारण था कि मैं इस पर लिख नहीं सकी थी। हो सकता है मैं मुक्त नहीं होना चाहती थी। कुछ इसकी शैली की अजनबीयत और कुछ आगे के पन्नों में क्या होगा इसे पहले जान लेने की उत्सुकता- इसे पूरा सिलसिलेवार पढ़ने से रोकता रहा। इसका एक अर्थ यही निकलता है कि मैंने इसे लीनीयर पद्धति से न पढ़ कर नॉन-लीनीयर पद्धति से पढ़ा है। कई बार एक हंसगान को बगल में रख कर दूसरा हंसगान भी पढ़ने लगती हूँ। हो सकता है यह मैं जो लिख रही हूँ वह भी नॉन-लीनीयर तरीके से हो पाए।

ये दोनों हंसगान- “विश्वमिथकसरित्सागर” और मानव देह तथा हमारी देहभाषाएँ अपने आप में विषय की दृष्टि से बहुत विलक्षण हैं। हिंदी छोड़िए संभवतः भारतीय भाषाओं में भी इस विषय पर इस स्तर की पुस्तकें नहीं लिखी गई हैं। पर इनका उद्देश्य तो और भी अविश्वसनीय और विलक्षण है। वे लिखते हैं-

“सो इस ग्रंथ को गूँथने में मेरा एकांतिक प्रयोजन रहा है- “न यश, न धन। केवल मिशन”। कि कथित राजभाषा हिंदी की बेचारी गोमाता के थनों में मैं भी एक अमृत बूँद भर सकूँ।” (पृ. xii, अगले पृष्ठों के बारे में), विश्वमिथकसरित्सागर)

फिर वे आगे यह भी लिखते हैं-

“2. अनेक भाषाओं की नाममालाओं के नाम के उच्चारण की मेरी घोर मूढ़ता व्याप्त रही है। मैंने लिपियों के अनुसार ही रोमन का देवनागरी में उच्चारण लिखा है। (केवल देवनागरी लिपि ही है जिसमें लिपि एवं वाक् में एकरूपता है)।” (पृ. xvii, स्वीकारोक्ति/ निवेदनम्बही)

“मुझे एक अचम्भा और आश्चर्य भी हुआ कि अगर हिंदी, साहित्य-धुरी से आगे विज्ञान-समाजविज्ञान (कला-संस्कृति) संस्कृति के क्षेत्रों में मजबूत कदम रखेगी तो वह एक सम्पूर्ण अभिव्यंजक, अत्यधिक

समर्थ, लोकप्रिय तथा अनिवार्य संदर्भ भाषा भी बन सकती है। वह एक अभिन्न व आधुनिक भाषा होगी। मैंने भी इस ग्रंथ में उसी दिशा में हिन्दी की विजय यात्रा कराई है।” (पृ.-11, मानवदेह और हमारी देहभाषाएं)

राष्ट्रभाषा हिंदी और देवनागरी लिपि के महत्व को पहचानने जैसे महती उद्देश्य को सामने रख कर लिखी गई इन पुस्तकों का उनके बोलने और लिखने वालों ने कितना स्वागत किया है, यह एक अलग सवाल है। फिलहाल यह हमारी चर्चा का विषय नहीं है।

“विश्वमिथकसरित्सागर” पर कुछ कहने के पूर्व मुझे इतना स्वीकारना चाहिए कि इसे पढ़ कर तुरंत समझ लेना सरल काम नहीं है। यह अलग बात है कि रमेश कुंतल मेघ की लगभग सभी आलोचना पुस्तकें इस श्रेणी में आती हैं। केवल इसलिए नहीं कि मिथक एक गूढ़ विषय है; तकनीकी विषय है। बल्कि इसके पूर्व मिथक पर दामोदर धर्मानंद कोसांबी और डॉ. नगेन्द्र अथवा हजारीप्रसादजी को पढ़कर एक संकल्पना के रूप में मिथक का अध्ययन बहुत कठिन नहीं लगा था। नॉर्थरोप फ्राय की “आर्किटाइप्स ऑफ़ लिटरेचर” एक तो अंग्रेज़ी में होने कारण और दूसरे पश्चिम के काव्य-सिद्धांत का बहुत परिचय न होने के कारण कुछ कठिन लगी थी। फिर वो मेरे पीएच.डी. के आरंभिक वर्षों में पढ़ी जाने के फलस्वरूप उसका कठिन लगना स्वाभाविक ही था; पर फिर भी अंत में उसे समझ ही लिया था। लेकिन “विश्वमिथकसागर” अपनी कथन-शैली और भाषा प्रयोग के कारण इतनी सरलता से और वह भी एक बार में पढ़कर समझ में आए, ऐसा ग्रंथ नहीं है। फिर भी जितना मैं उसे समझ पाई हूँ उसकी बात करना चाहूँगी।

“विश्वमिथकसरित्सागर”- शब्दों, चित्रों और रेखांकनों सहित कुल 666 पृष्ठों की सुपर ऑक्टोवा (7 इंच चौड़ाई व 11 इंच लंबाई) आकार का ग्रंथ है। इसका फॉट साइज़ भी सामान्य पुस्तक की तुलना में छोटा है। यह बताना इसलिए ज़रूरी है कि इससे अंदाज़ा आ सकेगा कि इस ग्रंथ में कितनी विपुल

सामग्री है। 29 पृष्ठों की भूमिका और 18 पृष्ठों की रूपरेखा-जिसे हम अनुक्रमणिका कहते हैं। इसे रूपरेखा ही सही नाम दिया है क्योंकि इसे पढ़ कर पूरे ग्रंथ का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। ग्रंथ में कुल 13 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय को सुशोभित करता है एक काव्यमय शीर्षक। उदाहरण के लिए-

पहले अध्याय की शीर्षक “ऋग्वेद की ऋचा” है तो दूसरे अध्याय का शीर्षक है- “होगी जय, होगी जय पुरुषोत्तम नवीन” जिसमें उन्होंने ब्रह्मांड की व्युत्पत्ति तथा मानव जाति-प्रजाति की निर्मितियों के साथ मिथकों के जनम को जोड़ा है। अर्थात् जब हमारा यह ब्रह्मांड बनने की प्रक्रिया में था, जीव की, मानव की जातियाँ बन रही थीं तभी से मिथक भी निर्मित हो रहे थे। अर्थात् मिथक ब्रह्माण्ड जितना प्राचीन हैं। वे इस अध्याय को फिर दो भागों में बाँटते हैं जिसमें वे सृष्टि तथा मानव कबीलों की व्युत्पत्ति एवं गठन की बात करते हैं। पहले भाग में चार मुद्दों की चर्चा है और दूसरे में छः। तनिक विस्तार से इसे इसलिए बता रही हूँ कि सारे अध्याय इसी तरह विस्तार से सुनियोजित हैं। पुस्तक पढ़ने के पहले ही इस रूपरेखा से हमें पुस्तक के कथ्य का पता चल जाता है। पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए यह बहुत ज़रूरी लगती है। रूपरेखा मानों ग्रंथ मानों की स्वयं विज्ञप्ति बन जाती है। लेकिन प्रत्येक अध्याय का ऐसा ही वर्गीकरण नहीं किया है। कहीं अध्यायों के उप-विभाग- A-1, A-2.... हैं तो कहीं रोमन आंकड़े-। कहीं क, ख, ग, घ तो कहीं अ, ब, स, द और कहीं अ, आ, ई, उ, ऊ...। हमारे भीतर का शोधार्थी कहेगा कि एकरूपता नहीं है। परंतु इस विषय को जिस तरह रूपांकित किया है उसमें यह अजूबा भी नहीं लगता।

अंतिम अध्याय बहुत रोचक है। उसका शीर्षक है- “पश्य मिथकस्य विश्वरूप यात्रा चालू आहे।” आप देखिए “यात्रा चालू आहे” मराठी भाषा का वाक्य है जो यहाँ उतना ही संगत लगता है जितना इसका पूर्वार्द्ध-पश्य मिथकस्य विश्वरूप। इस अध्याय में किस

तरह हमारे मिथक आज नया रूप धर रहे हैं और किस तरह हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में नए मिथक बन रहे हैं, इसका रोचक विवरण है। अर्थात् प्राचीन काल के मिथक आज भी नए-नए रूप धारण कर के हमारे बीच हैं। वर्तमान समय में चेग्वेरा और भगत सिंह का मिथक बन जाने से ले कर जयललिता को किस तरह मिथक में रूपांतरित किया जा रहा है यह बताया है। पर मेघ जी के शब्दों में ही कहें- तो यात्रा चालू आहे। आज भी अपने को जैविक शरीरधारी न हो कर पौराणिक देवताओं की तरह अवतरित होने की कथाओं की यात्राएँ अथवा विष्णु के अवतार के मिथकों की कथाएँ रुकी नहीं हैं। इस संदर्भ में आगे विस्तार से बात होगी। पुस्तक के अंत में मिथक से संबद्धित पचपन पुस्तकों की संदर्भ-सूची दी है जिसमें पूर्व तथा पश्चिम के उन सभी विद्वान लेखकों के पुस्तकों का उल्लेख है जिनका उपयोग इस पुस्तक में किया गया है। विशेष रूप से अध्याय पाँच में हुआ है- “मिथक आदि, मिथकान्ति अनंता।” इसमें उन्होंने यह पड़तालने की कोशिश की है कि “मिथक क्या है- सपना, कि जादू, कि धर्म, कि अनुष्ठान, कि कथा? वह है कैसी?” वैसे इस पुस्तक में मैंने पहली बार मिथक का स्त्रीलिंग प्रयोग पढ़ा। पहले मुझे अजीब लगता रहा। क्योंकि अब तक मिथक शब्द का पुल्लिंगी प्रयोग ही मैंने पढ़ा था। धीरे-धीरे मुझे यह स्त्रीलिंगी प्रयोग अच्छा भी लगने लगा और मैं यह सोचती हूँ कि मिथकों की यह दुनिया जो इस दुनिया की होते हुए भी कहीं इसके पार-परे है उसे स्त्रीलिंगी संबोधन कर के उन्होंने पुस्तक के समर्पण को जस्टिफाई भी किया है। यह पुस्तक अपनी मृत पत्नी और बेटियों को समर्पित की है। यह लिखी भी इसीलिए गई कि बेटी मधुछंदा से इसे पूरा करने की प्रेरणा और सुविधा दोनों प्रदान की। आरंभिक पृष्ठ पर ही जो एक कवितानुमा स्वीकारोक्ति है- उसकी कुछ पंक्तियाँ इस तरह की हैं-

“काश, यह होने लगे- फिर मैं आठ वर्ष का बालक- कि गंगा नदी से निकल/मेरी अम्मा/आँखों

में काजल/ललाट पर दिठौना आँज दे। / तीनों बेटियों का पल्लू थामे सौरमंडल झाँकू, / फिर फूले कचनार की ओट में बैठी / क्वॉरी दिवंगता पत्नी की / सफेद आँखें चुपके-चुपके / हथेली से ढाँप / उसके गालों पर / सुहाग-चुंबन छाप दूँ।” विश्वमिथकसरित्सागर।।)

एक तरह से देखा जाए तो मिथक का स्त्रीलिंगी प्रयोग अर्थात् अपने विश्लेषण विषय और चिंतन की समग्र परिकल्पना ही स्त्रीलिंग कर के नारीवादी नज़रिए से चरम स्वरूप को उन्होंने एक तरह से प्रस्तुत किया है। इनसे बड़ा नारीवादी कौन हो सकता है जो अपनी चिंतना और परिकल्पना में ही इन नज़रिए को रोप दे।

ग्रंथ के अंत में लिखे इस वक्तव्य पर ध्यान देना आवश्यक है-

“काल अनादि-अनंतवाही, महाअमूर्त विराट है। दिक् (देश स्पेस) अपने नाना रूपाकारों तथा प्रत्यक्षणों, परिवर्तनों तथा जड़ताओं, विनाशों तथा संहारों, उत्थान तथा पतन, उन्मेष तथा अवसान आदि के द्वारा काल को चिह्नित, लक्षित, परिभाषित, विभाजित, पिछड़ा या अगेड़ा करता है। अतः देश का अस्तित्व प्रकृति और जीवन है। यही काल की सत्ता को प्रतिभास कराता है।”

एक विश्वनीड़ (रवीन्द्रनाथ टैगोर) एवं मानवीय श्रम की महा-विश्वशक्ति (कार्ल मार्क्स) से मानो त्रिकाल एवं त्रिपुर एकताल हो गए हैं तथा एक आधुनिक वैचारिक युटोपियाई स्वप्न-समय भी साकार हो सका है। कार्ल मार्क्स के दर्शन के द्विपर्ण द्वंद्वात्मकता तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद हैं। उनकी संरचना का दूसरा आयाम मूलाधार (बीइंग) तथा उससे सुपरिगठन (बिकमिंग) का अभ्युत्थान है, और तीसरा मूलाधार के आदिम समाज एवं वैज्ञानिक-टेक्नॉलॉजीय आधुनिक समाज का समन्वय (सिन्थिसीस) है, जहाँ राज्यसत्ता-देशसीमा, तिरोहित हो जाएंगी, समाज वर्गहीन हो जाएगा तथा मनुष्य को भौतिक एवं सांस्कृतिक कार्य तथा सृजन एकैक मूल्यवान हो जाएगा। वस्तुतः यह मिथकीय मानस में प्रोमेथियस तथा आधुनिक मानव में विश्वरूप वासुदेव का तर्कपूर्ण सामंजस्य के जैसा हैं।

क्या यह आधुनिक विचारधारात्मक-समाजवैज्ञानिक कल्पलोक (यूटोपिया) है? सम्प्रति ऐसा आभासित हो सकता है, किन्तु यही भविष्य की "अनिवार्य यथार्थता" होगी। प्राक्-आदिम (प्रिमिटिव) समाज की समता-समानता ही भविष्य का साम्यवादी समाज का वैसा साम्य है जहाँ शोषणरहित वर्गविहीनता है, राष्ट्रवर्ती राज्य की सीमाएँ तिरोहित हैं। हमारे विश्वमिथकयानों का भी ही व्यास उद्गीत है कि विश्व एक है, मनुष्य एक है, तथा मिथकीय मानस एकैक है। (विश्वमिथकसरित्सागर, पृ.-664)

भारतीय तथा विश्वपरंपरा, समाजवैज्ञानिक-विचारधारा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समन्वय से लिखा यह ग्रंथ इसलिए भी विलक्षण है कि इसके सभी रेखांकन स्वयं रमेश कुंतल मेघ द्वारा बनाए गए हैं। इन रेखांकनों के अलावा काले-सफेद एवं रंगीन चित्रों का भी विपुल मात्रा में समावेश किया गया है। ये रेखांकन केवल इसी पुस्तक में नहीं बल्कि "मानवदेह और हमारी देहभाषाएँ" पुस्तक भी अनेक रेखांकनों, चित्र-छवियों से सार्थ-सुशोभित है। विभिन्न मिथकीय घटनाओं, चरित्रों, कथाओं के ऐसे-ऐसे रेखांकन मेघजी की कलम से प्रकट हुए हैं कि लगता है कई सारे रेखांकन लेख में शामिल करूं। पर पत्रिका में लेख की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए अपना लोभ संवरण करना पड़ रहा है। यूँ यह ग्रंथ मेघ जी के चित्रकार को भी हमारे सामने प्रकट करता है। आलोचक और चित्रकार के अलावा मेघ जी के एक सुधि समाज-वैज्ञानिक, भाषा-वैज्ञानिक तथा विज्ञान के विद्यार्थी हैं; यह हमारे सामने उजागर होता है।

यह ग्रंथ एक गाथा, एक आख्यान की तरह है और इसके कुछ बीज शब्द हैं। उदाहरण के लिए—ऋतु, कृतु, भरतपाठ, निजंधर-लिजंधर, मिथक-छवियाँ, मिथक कथा, मिथक-यान, मिथक आलेखकारी, मिथक अभिप्राय, मिथकीय मानस, कबीलाई मानस, मिथक संबंध, मिथकीय अंतर्कुंडलन, शामनवाद, पशुकथा, परिकथा, कायांतरण, अधि-भाषा (मैटालैंग्वेज) मिथक भाषिकी, भाषिकी अंतर्कुंडलन

आदि आदि अनेक ऐसे बीज शब्द हैं।

लेखक को कितने ही पारिभाषिक शब्द गढ़ने पड़े हैं और उन्हीं के शब्दों में "उन्होंने धड़ल्ले से गढ़ा भी है"। इसीलिए आवश्यकता पड़ने पर शब्दों के स्तर पर भी कई बार ऐसा ही किया है, और धड़ल्ले से किया है।

इस ग्रंथ की रूपरेखा देखें तो पता चलता है कि इसे उलट-पुलट कर कहीं से भी पढ़ा जा सकता है। मसलन पहले ही अध्याय में आपका ध्यान "जीन का प्रथम अभिज्ञान" शीर्षक पढ़ कर ठहर जाता है और आप उसे तुरंत जानना चाहते हैं। उसी समय "समुद्रायनी" शब्द भी आपकी उत्सुकता जगाता है। वहीं तीसरे अध्याय में "चंद्रमा की टोकरी", "तम्बाकू का उद्गम", "मक्की की उद्गम", "ओह-कुनी-निशी"। फिर सातवें अध्याय में "भारतीय मिकायन का वैदिक देवमंडल" भी आपका ध्यान खींचता है। "मिथकों की द्वीप-द्वीपांतरों की यात्राएं", "भगत सिंह", "उत्तर आधुनिकता" आदि जो अंतिम अध्याय में हैं, उसे भी आप देख लेना चाहेंगे। लेकिन व्यवस्थित जानकारी अगर आपको चाहिए— यानी कि आप एक गंभीर अनुशासित पाठक हैं और इस ग्रंथ के लेखक की तरह नहीं हैं तो सबसे पहले आपको पाँचवाँ अध्याय पढ़ना चाहिए। इस पाँचवें अध्याय में क्या है, इसे भी पड़ताल लेना चाहिए।

पाँचवें अध्याय की रूपरेखा में मेघ जी ने इसके उप-भागों को A-B-C-D- इस तरह विभाजित किया है परन्तु जब अध्याय आरंभ होता है तो उन्होंने इसका विभाजन- 5.1., 5.2, 5.3- इस तरह किया है। इसे लेखकीय बेध्यानी कहा जा सकता है— टेक्नीकली। पर इसे नज़रअंदाज़ भी किया जा सकता है क्योंकि नाटक के रंगमंच को हम बढ़ई की नज़र से नहीं सहृदय की तरह देखते हैं। इसके पहले उपविभाग में मिथक के समान्तर ब्रह्मांड की चर्चा है जिसमें आठ बिंदु बताए गए हैं। इसके अंतर्गत मिथक और अधिभाषा, मिथक और पुरातत्व, भरतपाठ, मिथक के जादुई कुंडल जैसी कई बातों की चर्चा है। दूसरे उपविभाग

में विद्वानों के दर्पण में कई विदेशी-देशी विद्वानों द्वारा दी गई मिथक छवियों की चर्चा है। इसमें कुछ विशिष्ट परिभाषाएँ भी हैं। इसे वे सामाजिक पंचांग अथवा मानस-संरचना कहते हैं। तीसरे उपविभाग में विश्वमिथक यानों की रेखावंलियाँ हैं। विश्वमिथकों के घेरा-छेंकी की क्षेत्रों की चर्चा है। अब संज्ञा- घेराछेंकी इनका अपना गढ़ा हुआ शब्द है- अंग्रेजी के कैचमेंट एरिया के लिए उपयोग में लाया गया है। इसे आमतौर पर जलग्रह क्षेत्र, अपवाह क्षेत्र अथवा स्रवण क्षेत्र कहा जाता है। पर उन्होंने इन शब्दों का उपयोग न कर के घेराछेंकी कह कर अपनी पुस्तक के भाषा-अजिस्टर के सौन्दर्य की रक्षा कर ली। दुरुह लग सकता है पर साथ ही में अंग्रेजी शब्द दे कर अपना काम इन्होंने चला लिया।

हम आपत्ति उठा सकते हैं। पर एक नया शब्द उन्होंने हिंदी को दिया इसमें कोई संदेह नहीं। विभिन्न विद्वानों के द्वारा दी गई आलेखकारी के साथ अपनी आलेखकारी भी दी है। इसमें उनका एक वाक्य बड़ा सीधा और स्पष्ट है। “प्राचीन संसार में मिथकें सत्य थीं। आधुनिक संसार में असत्य हैं; मिथ्या हैं यह विभ्रान्ति है।” (पृ.-236) चौथे उपविभाग में मिथक-भाषिकी, भाषिकी अंतर्धूलन, मनोभाषा आदि को ग्रीक, दक्षिणी अमरीका तथा भारत के उदाहरणों द्वारा समझाया है।

यह अध्याय पूरे ग्रंथ का सैद्धांतिक पक्ष है। चर्चा के उपरांत वे कहते हैं-

“अतएव मिथक केवल कथा नहीं है, अपितु यह एक समानांतर ब्रह्मांड है। इसमें इस ब्रह्मांड का पूरा संरूपात्मक आलेख है; प्रकृति है, संस्कृति है, संप्रेषण हैं, इत्यादि।

विश्वमिथकयान तथा मिथकायतनका एक समानांतर स्वायत्त विश्वरूप संसार जो है वह है तो अमूर्त, किंतु सदा-सर्वदा हमारा संदर्भ एवं आचरणमूलक मानक बना रहता है। यह हमारे मौजूद वर्तमान संसार के समक्ष तथा समकक्ष है, लोक तथा मर्यादा, अनुष्ठान तथा कर्मकांड कथा तथा दृष्टांत रूप में-”। (पृ.-237)

मिथक की चर्चा करते हुए रमेश कुंतल मेघ जब कहते हैं कि मिथकों का अवतरण या जन्म चाहे पूरा ऐतिहासिक काल में हुआ है पर वे सतत् हमारे वर्तमान में भी बनी हुई हैं तब हमें लेखक की बात सही मान लेनी चाहिए। विष्णु मिथक की रचना प्राचीन है- वेदों के समय की। सातवें अध्याय में विष्णु और शिव का मिथकीय संदर्श देते हुए वे कहते हैं-

“वेदों के इंद्र, अग्नि, सोम और आदित्य का जो मेल हुआ उससे “विष्णु” का पूरा विधि-विधान बना। पहले मत्स्य, फिर कच्छप फिर वाराह... फिर विक्षुब्ध क्षीर सिंधु की शेष शैया में पद्मनाभ। तो सप्तसिंधु (जलीय क्षेत्र) की रहाइश के लिए ऐसी शैया बना ली। (पृ.-378)। कैसे शिव और विष्णु के बीच मर्यादाएँ तय हुईं और यह मिथक कहाँ से कहाँ पहुँची इसकी विस्तार से चर्चा है।”

मिथकें देश-काल के परे यात्राएं करती हैं और इसी संदर्भ में अंगकोरवाट मंदिर की बात ध्यान देने योग्य है।

“कम्बोडिया (कम्पूचिया) के रम्मेर (कामारि) साम्राज्य (ई. पू. 300) के सम्राट जयवर्मन द्वितीय (ई. पू. 802) ने अंगकोरवाट नामक विष्णु मंदिर बनवाकर उसमें अष्टभुजा विष्णु के भव्य विग्रह की स्थापना कर दी। तब उसे स्वमेल को विष्णु का अंशावतार अर्थात् देवराजा घोषित कर दिया। कालान्तर में वह स्वयं में विष्णु का प्रत्याभास भी करने लगा।”

अंगकोर-वाट-मंदिर का वास्तु गिरिपुंजवत् है ताकि उसमें मेरु पर्वत का प्रतिनिधित्व हो सके जो हिंदू देवताओं का निवास माना जाता है। वह स्वयं उसमें एक ऊँचे तल पर रात्रि को अनन्त शयन करता था। (ई.पू.1) अंगकोर वाट के गर्भगृह का प्रवेशपथ समुद्र मंथन वाले सर्पों तथा देवों की प्रतिमाओं के गलियारे-जैसा है। उसने समुद्र मंथन से प्राप्त (व्यापार द्वारा) ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य की देवी लक्ष्मी का वरदान पाया ही था; साथ ही कई अप्सराओं का समागम भी भोगा।

अतः जब सम्राट अनन्तशय्याशायी विष्णुरूप हो

गया तब अन्य मिथकवृत्तों तथा अभिप्रायों का अंतर्कुंडलन भी हुआ। उसकी भी शेषशैया के लिए प्रासाद में हर दिन एक अपसरा-नागरमणी नागिन-सी सजधज कर उसके साथ शयन करती थी। यह भी लोकश्रुति फैली कि जिस दिन शेषशैया पर इच्छाधारी नाग-रमणी से यह केलि-रमण नहीं होगा उस दिन संसार स्थित नहीं हो सकेगा और देवराजा स्वर्गारोहण कर लेंगे। (पृ०-238)

विष्णु का अवतार घोषित करने की परंपरा आज भी है। अर्थात् जन-मानस में यह बहुत गहरे तक चला गया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। मेघ जी के शब्दों में यह "यात्रा चालू आहे।"

पाँचवें उपविभाग में मिथक-आलेखकारी, मिथक पद्धतियाँ मिथकीय तर्कात्मकता, आदि मिथक से भरत-पाठ तक का विवेचन और सामाजिक पंचांग का तात्पर्य आदि है। भरतपाठ शब्द का प्रयोग बहुत अर्थपूर्ण है। इस पूरे ग्रंथ में मिथकों को भारतीय दृष्टि से देखने, समझने और लिखने का उपक्रम इसे मौलिक बनाता है। रमेश कुंतल मेघ ने मिथक-संकल्पना को भारतीय नज़रिए से देखा है और हिंदी में लिखा है। यही इस ग्रंथ के संदर्भ में उनका महती योगदान है हमारी ज्ञान-परंपरा के विकास में और हिंदी के प्रचार में। इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए।

एक तरह से इस अध्याय में मेघजी ने मिथकों की सैद्धांतिकी को हमारे सामने रखा है। पर अपने "कुंतलीय आग्रह और पद्धति के साथ"।

पृथ्वी हो या सृष्टि हो- दोनों स्त्रीलिंग हैं। स्त्री विग्रह हैं। मिथक संज्ञा भी मेघजी के अनुसार स्त्रीलिंग है। ऐसे में स्त्री-विग्रह विषयक मिथकों की विपुलता से चर्चा इस ग्रंथ में सहज-स्वाभाविक है। वर्तमान समाज में भी स्त्री को ले कर जो विचार हमारे राष्ट्रीय अथवा वैश्विक मानस में है- तमाम नारीवादी आंदोलनों के बावजूद। स्त्री को लेकर समाज में जो चिंतन आज भी है उसके मूल कहीं-न-कहीं हमारे मिथक मानस में अवस्थित एवं सुरक्षित हैं। मेघ जी ने इनकी अत्यंत विस्तार से चर्चा की है। **॥ या देवी सर्वभूतेषु... मातृदेवियाँ, देवरमणियाँ, सौंदर्यमयी शक्तियाँ ॥**

शीर्षक से उनका आठवाँ अध्याय बहुत रोचक है। इसमें अधिकांश चित्र और चर्चा भारत से जुड़ी हुई है।

मातृरूपों, स्त्रीरूपों के जितने मिथक भारत में मिलते हैं संभवतः उतने अन्यत्र नहीं। इसमें अनेक कथा-संदर्भ तथा इन मिथकों के जन्म की कथाएं हैं। असल में इस ग्रंथ का एक विलक्षण आकर्षण यही है कि पाठक इन मिथक-आलेखकारियों में खो जाता है। ये आपको बाँध लेती हैं। बिना कथा-रस के शुद्ध मिथकालेखन के द्वारा ही और इसमें सम्मिलित अनेक चित्रों और रेखांकनों के कारण लेखक बार-बार आपको इस पुस्तक की ओर ले जाता है।

सौन्दर्यबोध और सौन्दर्य की खोज मेघ जी का प्रिय विषय रहा है। यों कहा जाए तो विश्वमिथकसरित्सागर जैसे ग्रंथ की संकल्पना और प्रस्तुति के मूल के लेखक की यही भावना होनी चाहिए। "नयन का इंद्रजाल अभिराम" नामक 10वें अध्याय में उन्होंने मिथक कला में शोभन तथा अशोभन की चर्चा की है। शैल-चित्रकाली से लेकर सभी प्रमुख सभ्यताओं में स्त्री, काम, प्रणय, युग्मभाव आदि को लेकर मिलने वाले शिल्पों, चित्रों, संगीत तथा कथाओं का विवरण इसमें है। इसमें विपुल चित्र हैं तथा मेघजी द्वारा बनाए गए रेखांकन भी। जैसे पाँचवाँ अध्याय मिथकों की सैद्धांतिकी है वैसे ही दसवाँ अध्याय मिथकों के सौन्दर्यबोध को खोलने की प्रक्रिया है, एक तरह से। फिर मेघ जी तो विश्वमिथकसरित्सागर की बात कर रहे हैं अतः उनकी चर्चा में समग्र विश्व के मिथकों को समानांतर रखा गया है। इसे पढ़ते हुए यह अहसास होता है कि मिथकों को वैश्विक दृष्टि से देखे जाने पर ही उनकी एकात्मकता लक्षित होती है। आज मिथकें हमारे सामने जिस तरह हैं वे कैसे क्रमशः विकसित हुईं इसे उन्होंने समझाया है। उस क्रम को समझाते हुए वे कहते हैं कि मोहनजोदाड़ो की चित्रलिपि का अब तक न पढ़ा जाना एक समस्या (दुविधा) है। फिर वैदिक चक्र के बाद मौर्य-गांधार-कुषाण-गुप्त साम्राज्यों के शताब्दियों वाली अनवरत सुदीर्घ परंपरा जिसमें मिथकें पहले कर्मकांड में, फिर

॥ मूल्यांकन ॥

धर्म में, फिर साहित्य-सौन्दर्य में, फिर दर्शनशास्त्र में रूपांतरित होते-होते धर्मकथाएं बन गई हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि मिथकों के देशकाल सूचक अवशेष नहीं के बराबर मिलते हैं। शायद इसीलिए जब कोई भीम की रसोई में या हनुमान के चरणचिह्न टूरिस्टों को दिखाते हैं तो उन पर एक तरह का अविश्वासी विश्वास यात्रिकों को होता है। नरेश मेहता की "काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व" पुस्तक में राम तथा कृष्ण के मिथकों की बड़ी रोचक व्याख्या है। रमेश कुंतल मेघ अपनी बात रामायण-महाभारत के बीच भेद करते हुए आरंभ करते हुए सौन्दर्यबोध किस प्रकार हमारी इतिहास यात्रा में विकसित होता गया इसे बताते हैं। आरंभ से ले कर बनीठनी जी और राजारवि वर्मा तक की सौन्दर्यबोध की यात्रा के बिंदु मेघ जी प्रस्तुत करते हैं।

इस दीर्घ शब्द एवं चित्रलिखित ग्रंथ के विषय में इस एक लेख में कितना कहा जा सकता है। अतः लेख के अंत में इस ग्रंथ का अंत उद्धरित कर अपनी इस ग्रंथ-प्रीति को विराम देना उचित लगता है। गौर करने की बात है कि पुस्तक का आरंभ कवितानुमा अभिव्यक्ति से है और अंत भी वैसे ही किया है। कविताओं के कोष्ठक में संवाद-स्वरूप काव्यमय गद्य में लिखे इस ग्रंथ को थोड़ा-थोड़ा कर के स्वाद लेते हुए, पचाते हुए पढ़ते रहना ज़रूरी है। ऐसे ही यह पढ़ा जा सकता है।

"तथापि और तदपि" : महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, हजारीप्रसाद प्रसाद द्विवेदी के पूर्वक्रम में, तथा क्रिस्टोफर कॉडवेल, लुकाच, हेरिस हॉब्समान से पश्च क्रम में, उनकी मशालों की क़तार में मेरी भी विनीत-विनम्र अभिलाषा है— एक छोटा माटी का दीवा बालने की!!!

हमारी विश्वमिथकों : 2 : कैसे हैं अजनबी मनोलोक

कैसी-कैसी हैं

वो

दुनियाएँ-अत्रेय, अगम, अगोचर

मन को कतई नहीं मालूम

अवचेतन : वहाँ नन्हा शिशु

दर्शन : वो महज दिग्भ्रमित है।

वहाँ

बस अनिर्वचनीय

आनन्द है।

आतंक है।।

केवल विश्वमिथक हैं। दिवास्वप्न हैं।।

फिर भी

अंगारों की, पारिजातों की

यथार्थताएँ हैं।

मैं हूँ हतप्रभ

उन्हीं महासागरों का

नौसिखिया महानाविक!

"प्रसाद" का बुद्धगुप्त भी नहीं देख सका था
आकाशदीप से।

वही मेरी मनोरम - चम्पा है।

कहीं नहीं दिखेंगी

कभी नहीं मिलेंगी - वे मिथक - यक्षिणियाँ। वह
नीलतारा!

फिर भी

अन्वेषी मैं

अमर कालयात्री हूँ।।

—

सबसे अंत में अच्छे अज्ञात पाठिकाएँ- पाठकों! सुनो!
तुम पर मेरे धारादार फ्लाईंग चुम्बन हरसिंगार-फूलों की
तरह बरस रहे हैं। मुझसे संवाद जारी रखो, बताओ,
सिखाओ। वह कालोत्तीर्ष गोष्ठी!!! (1.1.2014) मुझे भी
बताओ! मिलते रहेंगे तभी ज़िन्दा रहेंगे। (पृ-664)

942600943

402, बिल्डिंग नं. 2 विन्डसर अरेरिया, होली क्रॉस स्कूल के नजदीक,
कोरल रोड, भोपाल - 362042, (मध्य प्रदेश)

अंतर्ज्ञानानुशासनीय श्रीयंत्र के निर्मेघ पैरोकार : मेघ

- राजवंती मान

आरंभ में ही बताती चलूँ कि शीर्षक में प्रयुक्त “श्रीयंत्र” शब्द मेरा नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य की अप्रतिम प्रतिभा और बेजोड़ शब्द-शिल्पी स्वर्गीय डॉ. रमेश कुंतल मेघ का है। यहाँ इस “श्रीयंत्र” (कलाइडोस्कोप) से उनका तात्पर्य बहु-संमूर्तिदर्शी अध्ययन प्रणालियों के सामंजस्य से है जिसके वह ताउम्र पैरोपकार बने रहे। वैसे भी यह शब्द वरेण्य है; ज्ञान, मानवीय मूल्यों और समृद्धि का प्रतीक है तो नानाविध ज्ञानानुशासनों के समन्वित अध्ययन हेतु डॉ. मेघ द्वारा उसे उचित ही प्रयुक्त किया गया है। हाँ, निर्मेघ शब्द मैंने प्रयुक्त किया है यानी निरभ्र या बादल रहित। बेशक, मैं चाहूँगी कि नये मेघ साहित्य के आकाश को आच्छादित कर दें, तो यह साहित्य के लिए हितकर ही होगा!

पिछले दिनों मुक्तांचल पत्रिका की संपादिका और मेरी मित्र मीरा सिन्हा जी ने फोन पर बताया कि वे अगला अंक रमेश कुंतल मेघ जी पर केंद्रित कर रही हैं और इसके लिए मेरा लेख चाहिए। मना मैं कर नहीं सकती थी क्योंकि मेरे और मीरा जी के बीच सम्बन्ध की डोर डॉ. मेघ द्वारा ही बांधी गई है और उनकी पहली पुण्यतिथि (1 सितम्बर) पर इससे उत्तम श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है! उनकी अलग-अलग पुस्तकों के बारे में सोचती रही, जिन्हें उन विषयों के इनसाइक्लोपीडिया या कुंजी भी कहा जा सकता है, तो ध्यान में डॉ. मेघ पर केंद्रित “बनासजन” का वह अंक भी आया जिसे प्रदीप सक्सेना जी द्वारा संपादित किया गया था और जिसमें उनकी विभिन्न पुस्तकों को आधार बनाकर लिखे गये विज्ञानों के लेखों के साथ मेरा भी लेख सम्मिलित है। सोचती रही कि अब क्या लिखूँ, तो आंखों में चंडीगढ़ की

सेंट्रल लाइब्रेरी का एक दृश्य घूम गया जब कुछ महीने पहले दूसरे तल पर कॉर्नर वाले रैक के उपरले सेल्फ पर उनकी एक पुस्तक “कांपती लौ” देखी थी, तो बस मन टिक गया उसी के हवाले से कुछ लिखने का। सच कहूँ तो इस पुस्तक के विषय-वस्तु से मैं अनभिज्ञ थी, क्योंकि शायद ही मैंने कहीं कुछ इसके बारे में पढ़ा, लिखा हो। पढ़ा तो खैर, बनासजन के लिए लिखने से पहले विश्वमिथकसरित्सागर को भी नहीं था जो मेघ ने स्वयं अपने हस्ताक्षरित उद्धोधन के साथ गदर-क्रांति दिवस यानि 11 मई 2018 को भेंट की थी और समय-समय पर पूछते भी रहे थे— “अच्छा! तुमने विश्वमिथकसरित्सागर पढ़ी?” मैं ना कर देती तो उकताये से कहते— “उसके फला पृष्ठ पर यह है उसे जरूर पढ़ें!” मैं हाँ कर देती। बाद में जब प्रदीप सक्सेना जी विश्वमिथकसरित्सागर पर लिखने को कहा और इसके अलावा कोई और ऑप्शन नहीं दिया तो उस ग्रन्थ (डॉ. मेघ के अनुसार हंस-गान या स्वान-साँग) को आरम्भ से अंत तक पढ़ा।

मैं अगले दिन लाइब्रेरी में पहुंची और कुछेक सीढ़ियाँ ऊपर जाकर सीधे हिन्दी-प्रखंड के उसी सेल्फ पर जाकर “कांपती लौ” तलाशने लगी। पर पुस्तक वहाँ नहीं थी; लेकिन है कहां? इतने में लाइब्रेरी की एक महिलाकर्मि पास आकर बोली— “मेम क्या ढूँढ रहे हो?” मैंने कहा यहां एक पुस्तक रखी थी वह दिखाई नहीं दे रही। वह बोली आइये कंप्यूटर में तलाश कर लेते हैं। लेखक का नाम/पुस्तक का टाइटल टाइप किया तो पता चला कि पुस्तक अवेलेबल है। वह सर्व नंबर लेकर उसी जगह पहुंची जहां मैं तलाश

कर रही थी। उन्होंने दो बार हरेक पुस्तक को हटा-हटा कर देखा पर नहीं मिली। उसने कहा- मैं निचले तल पर जाकर देखती हूँ शायद वहाँ मिले। वह चली गई और मैं अन्य किताबों पर नजर दौड़ाती रही। खुश हो रही थी कि हिन्दी की अच्छी-अच्छी पुस्तकें वहाँ मौजूद हैं। मैंने कुछ पुस्तकें निकाल लीं, इतने में वह महिला 'कांपती लौ' लेकर आ गई। कहने लगी- बहुत समय से किसी ने इश्यू नहीं करवाई थी तो यहाँ से हटाकर निचले तल पर भेज दी गई। खैर, मैं पुस्तक जारी करवा कर घर ले आई।

"कांपती लौ" डॉ. मेघ की अनुपम आलोचना-कृति है जिसका उद्देश्य साहित्य के नानारूपों-विषयों-विदाओं की समीक्षा हेतु "स्टीरियोटाइप" आलोचना-पद्धति पर प्रहार करते हुए नई आलोचना-दृष्टि (आलोचिंतनात्मक) की विनिर्मिति का प्रयास है जो इक्कीसवीं सदी के लिए जरूरी है। ज्यूँ-ज्यूँ इस किताब को पढ़ती रही, उसमें बंधती चली गई। गहरा बहुआयामी अध्ययन, अनुपम अधिष्ठापनाएँ, विरले पारिभाषिक, हिन्दी एवं विश्व के चोटी के लेखकों के संदर्भ, अंतर्ज्ञानानुशासनों का गहन विश्लेषणात्मक समन्वय कि सोचने-विचारने के नये गवाक्ष खुलते चले जाते हैं। कृति की पारंपरिक आलोचना को "आलूचना" कहकर डॉ. मेघ कहीं आगे निकल जाते हैं और आने वाले समय के लिए "आलोचिंतना" को स्थापित करते हैं। उन्होंने अंतर्ज्ञानानुशासकों का यह आधुनिक "कलाइडोस्कोप" को क्यों और कैसे बनाया, मैंने "कांपती लौ" से थोड़ा-बहुत समझने की कोशिश की है और इसी के हवाले से यहाँ बात करूंगी। भला क्या उनकी यह आलोचिंतना अंतर्ज्ञानानुशासनवर्ती समन्वय अध्ययन के बगैर संभव है? नहीं! हाँ, लेकिन मैं यह जानती हूँ कि मेरे लिए डॉ. मेघ के वैज्ञानिक रचना-संसार में उतरना जोखिम भरा आह्लाद हो सकता है इसलिए कतराते हुए यह प्रयास कर रही हूँ। एक

कहावत निरंतर खबरदार करती है "जहाँ समझदार लोग कदम रखने से डरते हैं वहाँ मूर्ख दनादन कूदते हैं।" इसलिए मुझे फूँक-फूँक कर कदम रखना होगा!

डॉ. रमेश कुंतल मेघ को पढ़ना इसलिए श्रेयस्कर और आवश्यक है कि वह ज्ञान की सीमाएँ तय नहीं करते, न किसी परिधि में बाँधते हैं। उनके अनुसार ज्ञान का सरहदों तक ध्रुवीकृत होना विचारों का अस्थायी युद्ध-विराम तो हो सकता है लेकिन विसैन्सीकरण नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता है तो तथ्य, यथार्थ, सत्य, श्रेय, लक्ष्य मूल्य, विमर्श जैसे हथियार कुंठित हो जाते हैं और ज्ञान का अंधकार युग अवतरित होने लगता है। अतः इस दशा में अतिक्रमण करने के लिए जरूरी है कि हम अपनी जीवन-दृष्टि तथा वैश्विक-दृष्टिकोण से प्रतिबद्ध बने रहे और स्टीरियोटाइप ज्ञानसंरूपों को श्याम-पाटी से पोंछकर चारांकित रेखांकित इबारत लिखें। (कांपती लौ, पृ. 9)

हम सब जानते स्वीकारते हैं कि रचना सृजनात्मक प्रक्रिया है और उसमें मानवीय गतिविधियों की प्रक्रिया भी मौजूद होती है जिसमें नई सामग्री, नये मूल्य, समाज-संस्कृति घुल मिलकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अंतर्निहित होते हैं। बेशक रचना के वार्तारूप भिन्न हों, संस्कृतियाँ भिन्न हों, स्वायत्त भी हों तब भी वह समग्र सामाजिक परिवेश से ही निर्धारित होती है। इंग्लिश कवि जॉन डॉन (1572-1631 ई.) के अनुसार- नो मैन इज आईलैंड, एंटायर इन इटसेल्फ... (No man is island, entire in itself; each is a piece of the Continent, a part of the main...)

अतः कृति में समाज-संस्कृति-काल का समावेश होता है, उसमें मनुष्य की अवचेतन तथा कल्पना समेत सभी आत्मीय शक्तियाँ भागीदारी करती हैं जो कौशल और माध्यम द्वारा कला-सृष्टि रचती हैं। रचना का वितान ऐंद्रिय भाव और अनुभव एवं बिम्ब कल्पना द्वारा

तन जाता है। संप्रेषणता के अपने प्रतिमान होते हैं। अतः रचना केवल एक रचना नहीं होती इसलिए रचना केंद्रित आलोचना को डॉ. मेघ आरम्भ से ही खारिज करते रहे। “यशपाल ने (आलोचक के ब्याज से) ऐसी आलोचना को काला कुत्ता कहा है जो अंधेरी रात में बैलगाड़ी के नीचे लटके लालटेन के पीछे-पीछे निष्प्रयोजन चलता रहता है। ऐसी आलोचना सत्ता और प्राधिकार को कतई खबरदार नहीं कर सकती।” (कांपती लौ, पृ. 14) अतः डॉ. मेघ मानते हैं कि आलोचना को भाव, कल्पना, आनंद के त्रिपुर से पारायण करके विचार-चिंतन, समाज-संस्कृति, विज्ञान और आधुनिकता के त्रिकोण का शक्ति केंद्रबिंदु बनाना होगा। तात्पर्य यह है कि आलोचना को आलोचिंतना में कायांतरित होना होगा। इस अभिनव आलोचिंतना की वुंज्जी है अंतर्ज्ञानानुशासनीय उपागम (इंटरडिसीप्लिनरी अप्रोच); इसके अंतर्गत विज्ञान और प्रौद्योगिकी, समाज विज्ञान और अन्य मानविकी संक्षेत्र समन्वित होते हैं इस नए चरण में आलोचना रचना के बंधे-बंधाये क्रोड़ को लांघकर संस्कृति की चतुरंगी परिधि को अपना लक्ष्य बनाती है।

रचना और आलोचना, एवं समाज और संस्कृति दो सेट्स बनते हैं। भूगोल (जियोग्राफी) मेरा पसंदीदा विषय रहा है अतः इसकी शब्दावली में कहूँ तो मुझे रचना और आलोचना चक्रवात और प्रति-चक्रवात की समदर्शी मालूम होती हैं। चक्रवात, यानी जिस क्षेत्र में वायु का दबाव न्यून होता है उस ओर अधिक वायुदाब क्षेत्रों से हवाएँ दौड़ती हैं यानि परिधि से केंद्र की ओर, और अनेक तरह की भौगोलिक संघटनायें (तूफान, आंधी, बारिश आदि) बनती हैं, जितना अधिक न्यून वायुदाब क्षेत्र होगा, हवाएँ उतनी ही गति से उस ओर जाएंगी। प्रति-चक्रवात इसकी विपरीत दशा होती है यानी अधिक वायुदाब वाले केंद्र से हवाओं का परिधि की ओर संचरण होता है। इसी तरह एक

रचना या कृति में भी समाज-संस्कृति के व्यापक परिवेश का केन्द्राभिसरण (cerntripetality) होता है और आलोचना में इसके विपरीत रचना के केन्द्रीय तत्वों का परिधि की ओर केंद्रापसरण (centrifugality) होता है।

जब रचना एक आयामी नहीं होती तो भला आलोचना एक आयामी होकर उसके साथ किस तरह न्याय करेगी! आलोचना मात्र किसी साहित्यिक कृति पर आश्रित परजीवी न होकर, संस्कृति के नाना-संरूपों यथा समाज-विज्ञान, मानविकी विज्ञान, कला-साहित्य आदि की आलोचिंतना हो सकती है। इसी प्रकार संस्कृति भी सभ्यता के आयामों से परिष्कृत होती हुई मूल्यों, चिन्तनों तथा निष्कर्षों का आयत्तीकरण करती है। डॉ. मेघ इसी “आलोचिंतना” के सर्जनहार और पैरोंकार बने रहे हैं और विभिन्न ज्ञानानुशासनों के जरिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण (पर्सपेक्टिव्स) से रचना के अंकन-मूल्यांकन के सशक्त मानदंड गढ़ते हैं और आलोचिंतना को ही भविष्य के लिए उद्धारक मानते हैं।

डॉ. मेघ से मेरा परिचय बहुत लंबा नहीं रहा परंतु इसे अंतर्ज्ञानानुशासनों की रोशनी में देखें तो यह गाढ़ा जरूर रहा। पुरातत्व, आर्काइव्ज, भूगोल, इतिहास, उर्दू साहित्य की पृष्ठभूमि के मेरे विषयों पर गम्भीरता से विचार-विमर्श करते और हिन्दी के साथ इनका तादात्म्य स्थापित करके आगे बढ़ने की बात करते। अंततः उन्होंने साहित्य और इतिहास में सामंजस्य बिठाकर काम करने के लिए लगभग निर्देशित करते हुए हिन्दी के साहित्य संसार में उतार दिया। अक्सर लंच टाइम में उनके पास जाना होता क्योंकि उनका आवास मेरे आर्काइव्ज विभाग से मात्र तीनेक किलोमीटर दूर था। मैं उन्हें हमेशा उनकी विशेष ऊंची कुर्सी पर बैठे किताबों, पत्रिकाओं, अखबारों की कतरनों से घिरे पाती। उनका राइटिंग पैड एक तरफ खाली

॥ मूल्यांकन ॥

विज्ञापन के छोटे-बड़े पर्चों से भरा रहता जिन पर कोई फोन नम्बर, विचार, रेखाचित्र, कविता की पंक्तियाँ आदि लिखे होते। अक्सर उनके पास बैठे होते उनके अभिन्न मित्र चन्द्र भार्गव जी। डॉ. मेघ के पास दिन में डेढ़ दो घंटे जाना उनकी दिनचर्या का हिस्सा था। ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे जब घर से निकलते तो कई बार मुझे भी फोन कर कहते- “मेघ जी के पास जा रहा हूँ, समय हो तो आ जाओ! और प्रायः महफिल जम जाती।” अफ़सोस मेघ जी से पहले चन्द्र भार्गव जी कोरोना इंजेक्शन की मार से चले गये। डॉ. मेघ को उनके निधन की खबर कभी नहीं दी गई।

वर्ष 2017 में मेरा पहली बार इंग्लैंड जाना हुआ तो मेघ जी ने कहा- “डायरी जरूर लेकर जाना और किसी भी विषय पर जो देखो, महसूस करो, खोजो, सबका लेखा-जोखा रोज दर्ज करना।” जब मैंने वापस आकर उन्हें अपनी डायरी दिखाई तो गदगद हो गये और कहा- “मैं लिखूंगा इसका ब्लर्ब” और जल्द प्रकाशित किया जाएगा। मैंने उसमें थोड़ा-बहुत परिष्कार करके पूर्ण पाण्डुलिपि टाइप करके उन्हें दे दी जो “थेम्स तरल इतिहास है” शीर्षक से अमन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित की गई। उन्होंने ब्लर्ब में लिखा- “सम्पूर्ण नंदिनी” में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यत्र-यत्र सर्वत्र महा-इतिहासबोध है। इसके फलस्वरूप पुरानी सभ्यता-संस्कृतियों का कई भागों वाला पश्चिमी-पूर्वीय सिलसिला पूरा हो जाता है जो फासलों को मिटाकर एक सांस्कृतिक पैटर्न पेश करता है। हम भी इस दुर्लभ, अप्राप्य संसार के बानी तथा हिस्सेदार हो जाते हैं।”

डॉ. मेघ के अनुसार साहित्य के समाज-शास्त्र का महासूत्र है- समाज साहित्य में, तथा साहित्य समाज में कई प्रकारों की चेतनाओं द्वारा प्रतिष्ठित होता है, कभी दर्पण की तरह, कभी दीपक की तरह,

कभी डायनमो की तरह और अब तो कम्प्यूटर डिस्क की तरह। परम्पराएँ, लोक-संस्कृति, लोकयान पर कार्य करना जरूरी है। एक बार उन्होंने कहा- “लोक तुम्हारी भाषा में झलकता है, आचरण-व्यवहार में है, व्यक्तित्व में बिम्बित होता है, यह आवश्यक है; तुम लोक, विशेषकर हरियाणा के लोक-समाज को लेकर काम करो”। मेरी पुस्तक “हरफूल जाट जुलानीवाला : हरियाणा की लोक-संस्कृति-समाज-साहित्य के आलोक में” के लिए उनका यह अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन योगदान है। कहने का तात्पर्य है कि उनकी अंतर्ज्ञानानुशासनीय सैद्धांतिकी ने मेरे लिए इतिहास और साहित्य के कई एंगल खोले हैं जो प्रतिबंधित साहित्य (काव्य-जीवनी-नाटक) पर मेरी आधा दर्जन पुस्तकों के रूप में पाठकों के समक्ष हैं उनका बखान करना मेरा ध्येय नहीं।

डॉ. मेघ के लेखन और भाषा को लेकर उनपर हमेशा प्रश्न उठते रहे। ये महानुभाव उनके लेखन को पश्चिम की ट्रांसलेशन और कटिंग-पेस्टिंग कहने से भी नहीं चूके। कईयों को कहते सुना कि उन्हें डॉ. मेघ का लेखन पसंद नहीं है। कारण, भाषा बहुत क्लिष्ट है। सोचिये, जिस अध्ययन में समाज-संस्कृति के साथ, भू-विज्ञान, मिथक, धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, राजनीति, सौंदर्यबोध शास्त्र, नृत्यशास्त्र और नाना विज्ञान के विषय शामिल हैं तो भाषा भी उनके अनुरूप ही होगी न ऐसा नहीं कि डॉ. मेघ इस तरह की आलोचना से अनभिज्ञ थे। जब उनसे इस विषय पर बात होती तो कहते- “हिन्दी ही है न! अगर समझ में नहीं आती है तो मेहनत करें! अगर भाषा यूँ ही सीढ़ियाँ नीचे उतरती जाएगी तो एक दिन सबसे निचले पायदान पर खड़ी होगी।” वे भाषा की सुंदरता, शुद्धता, उत्कृष्टता एवं पवित्रता के प्रति कटिबद्ध थे।”

डॉ. मेघ के यहाँ एक ओर अंतःज्ञानानुशासनपरक मनन-चिंतन का बहुवृत्तीय दायरा और दूसरी ओर

शास्त्र और प्रज्ञा का समन्वय, कला-शास्त्र, सौंदर्यबोधशास्त्र तथा विज्ञान एवं समाजविज्ञानों के न्यायों और पद्धतियों का समायोजन किया गया है। इसे अंतर्ज्ञानानुशासनीय "सैद्धांतिकी" कहने में भी क्या हर्ज है? कैसे हुआ यह सब, कैसे बना ऐसा श्रीयंत्र? इसके लिए तो लाजमी है इतिहास में झांकना। डॉ. मेघ ने विज्ञान से स्नातक किया और बाद में हिंदी साहित्य का रुख किया। अतः उनका चिंतन वैज्ञानिक है। उनके अनुसार आदिम समाजों में मिथक और भाषा, कला और जादू, धर्म और विज्ञान का प्रतीकात्मक किंतु अनबुझा सहकार था। यूरोपीय रेनासाँ में विज्ञान तथा मानविकी ज्ञानादि के द्वैतविभेद हुए। बाद में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, समाजविज्ञानों तथा मानविकी एवं कला साहित्य के विभेदीकरण हुए। कालांतर में उनके अंतर संबंधों की अधिष्ठापना और तेजी से हुई जिसे आधुनिक युग में अंतर्ज्ञानानुशासनीय शोध की कई व्यास रेखाएं बनती गईं। (काँपती लौ, पृ. 95) इस सुदीर्घ प्रक्रिया में ऐतिहासिक प्राचल पर विकसित होते समाजों में सभ्यता एवं संस्कृति के युगल ही शताब्दियों से मानवीय विकास के संलग्नक रहे हैं।

डॉ. मेघ स्वयं को मार्क्सवादी कहने में फख्र करते थे। उनके अनुसार "कार्ल मार्क्स ने तो हीगेलीय पद्धति की निर्विकल्पिता को भूत सापेक्ष बनाते हुए आर्थिक "मूलाधार" पर "सुपरिगठन" (सुपर स्ट्रक्चर) के वास्तुरूपक द्वारा सभी ओर आर्ष दिशाएं मोड़ दीं"। (काँपती लौ पृ. 95-96) वे कार्ल मार्क्स की सामाजिक-चेतना का आधार लेते हैं और सामाजिक अवस्थाओं, प्रतिबद्धताओं, विचारधारा और वर्गीय निष्ठा का निरूपण करते हैं। कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं- "क्या कारण है कि इनमें न मार्क्सवादी कट्टर जड़ता है - न घटिया अवसरवादिता है, न बिना बात रचनाकार की छाती पर चढ़कर अपने को स्थापित करने की वैचारिक तानाशाही है" (अनंत से अशेष तक, पृ. 13) उन्हें

डॉ. मेघ अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से अधिक विश्वसनीय लगते हैं।

डॉ. मेघ अपने बौद्धिक अध्ययनों में देश एवं विश्व के तमाम विद्वानों को अपनी प्रखर बहस में जोड़ते हैं और ज्ञान, मूल्य तथा संस्कृति के प्रस्थानकों को व्याख्यायित करते हैं। वह समाजविज्ञानों तथा मानविकी विषयों में, अमृत्य सेन जैसे अर्थशास्त्री की घोषणाओं में, एपीजे अब्दुल कलाम जैसे वैज्ञानिक से स्वप्नों में, प्रेमचंद की साहित्यिक कृतियों में, ओशो के धार्मिक प्रवचनों में, लालू यादव के तद्भव राजनीतिक भाषणों में, कौसाम्बी के दार्शनिक लेखन में, फिल्म टी.वी. रंगमंच के एकालाप और संवादों में चिंतन के नये आयाम तलाश लेते हैं। सो उनके अंतर्ज्ञानानुशासन अध्ययन का प्रमुख प्रयोजन बनता है कि वह सामाजिक निर्धारकों तथा अभ्यांतरित प्रक्रियाओं के बीच मनुष्य की चेतना को पल्लवित पुष्पित सुफलित करे। और नाना ज्ञानानुशासन मिलकर एक नए मंतव्य तथा गंतव्य के युगल तक पहुंचें।

डॉक्टर मेघ लिखते हैं- "आलोचना की सृजनात्मक भूमिका विभिन्न ज्ञानानुशासनों के संयोजन, एक वैश्विक दृष्टिकोण द्वारा अधिष्ठापन तथा अनुकूलित प्रणाली एवं पद्धति द्वारा संश्लेषण में परिलक्षित होती है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न अनुशासनीय आलोचना-प्रकारों की परस्पर स्पर्धा द्वारा इसकी सृजनात्मक भी पल्लवित पुष्पित होती है- जितनी ज्यादा स्पष्ट, विविधता, बहुलता, गंभीरता एवं नवीनता होगी उतनी ही अधिक आलोचना सृजनात्मक तथा संपूर्ण होती चलेगी। अतः यह एक ओर रचना की, तो दूसरी ओर संस्कृति की सहभागी होती है।" (पृ. 16) उनकी दृष्टि साहित्य की संकीर्ण सीमाओं से परे वैश्विक अध्ययनों तक पहुँचती है और उनकी आलोचिंतना के तत्व व्यापक होकर फैलते जाते हैं और वैसे ही पाठक श्रोता समूह भी बढ़ते जाते हैं। टायनबी, हैरी

॥ मूल्यांकन ॥

पॉटर श्रृंखला की लेखिका रोलिंग, ओशो रजनीश, नरेंद्र देव, ई एम एस नंबूदरीपाद, कौसाँबी आदि के विचार भी उनके यहाँ मिलते हैं।

इसी सूर्यमुखी मशाल को उठाये उन्होंने ज्ञान और समाजविज्ञान तथा अंतर्ज्ञानानुशासन का वैश्विक कद्दावर दर्पण हमारे सामने रख दिया जो भविष्य में आलोचना के लघु दर्पण से आगे संस्कृति तथा सभ्यता की मशाल बनेगा। इस आलेख में मैंने उनकी पुस्तक “कांपती लौ” के हवाले से बात की है। इस पुस्तक का महासूत्र है: “सृजनात्मक आलोचितना ही आलोचितनात्मक सिरजना है! इस धुरी पर नानाविध समाजविज्ञानों तथा कला-संस्कृति का ज्ञान और संदर्भ फैला है। विभिन्न विषयों और अनुशासनों की समावेशी होने के कारण यह किताब कांपती लौ की तरह है। बहुल अक्षों में संचरणशील होने के कारण यह (आलोचना के विपरीत) “आलोचितना” है।”

अपने इस विस्तृत ज्ञान सागर में वे देशज से वैश्विक, मिथक से आधुनिक, इतिहास से विज्ञान, देह से दर्शन, सौंदर्यबोधशास्त्र से समाजशास्त्र, मार्क्सवाद से क्रांति दर्शन के अनुचितन तक अपनी प्रज्ञा और प्रभा को दौड़ाते हैं। यूनानी नाटककार सोफाक्लिज

(ई.पू. 496 से 406) ने कहा है कि तुम जितनी दूर तक जाओगे समुद्र उतना ही ज्यादा गहरा होता जाएगा। यह देश तथा काल की यात्राओं के दृष्टि-पथ (पर्सपेक्टिव) हैं।

“कांपती लौ” में इक्कीसवीं सदी के लिए आलोचितना; भाषा संस्कृति और हिन्दी; भाषा मिथकों का भंजन भी लाजमी है; 21वीं सदी में साहित्य की संस्कृति; हमारा वर्तमान और मार्क्सवादी सरोकार; साहित्य के सौंदर्यबोधशास्त्र का संयोजन और “आकाशदीप” कहानी के प्राचल पर; साहित्य का देश निःस्तब्ध है यह आलोचना की संक्रांति का काल है; कैसा साहित्य? कौन सी आलोचना? कविता की रचना-प्रक्रिया; महादेवी की नारी-रहस्यमयता; प्रेमचंद के उपन्यास: आधुनिक सामाजिक इतिहास के दस्वावेज; अनेक अनुसंधानों के इंतजार में गोदान; से लेकर बोरिस पास्तरनाक का डॉक्टर जिवागो; सन सत्तावन का गदर, भारत का समाजवादी आंदोलन और युगीन साहित्य; अफ्रीकी मूल के अमेरिकियों का हार्लेस रेनासॉ एवं चे ग्वेरा तक उनके अध्ययन में शामिल हैं। डॉ. मेघ का यह विस्तीर्ण बहुस्तरीय “अंतर्ज्ञानानुशासनी श्रीयंत्र” ही हमारा उद्धार करेगा...!

98146 76936

एफ2/301, माया गार्डन सिटी; चंडीगढ़-अम्बाला रोड
जीरकपुर - 140603 (पंजाब)

कामायनी सौंदर्य से साक्षात्कार उर्फ प्रकृति दर्शन

- डॉ. के वनजा

रमेश कुंतल मेघ द्वारा रचित 'मिथक और स्वप्न: कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका' से आज गुजरते वक्त मुझे जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' के सही सौंदर्य से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ। मेघजी ने अपनी रचना के आमुख में यों कहा कि "कामायनी में महान असफलताओं और महत्वपूर्ण श्रेष्ठताओं और महत्तम संभावनाओं का संयोग हुआ है।" अपने इस वक्तव्य को प्रमाणित करने के लिए अपने इस ग्रंथ के शुरु से लेकर अंत तक उन्होंने सतर्कता एवं संजीदगी से काम किया। इसके लिए उन्होंने भारतीय दर्शन, काव्यशास्त्रीय पद्धतियाँ, पाश्चात्य दर्शन और काव्य मीमांसीय तत्वों का सहारा लिया। सभी विशेषणों के माध्यम से कामायनी को यूटोपीय स्थापित करना भी उनका लक्ष्य रहा था। लेकिन पंक्तियों के बीच में जो अर्थ बिखरा पड़ा है उसे पकड़ने के प्रयत्न में मैंने समझ लिया कि उनकी किताब से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस पुस्तक की असफलताओं से ज्यादा इस पुस्तक की महत्वपूर्ण श्रेष्ठताएँ एवं महत्तम संभावनाएँ खुल गयीं। यह कामायनी के रूपकत्व का स्वस्थ परिणाम है। सचमुच मेघजी कामायनी के पूरे सौंदर्य से होकर हमें ले जाते हैं। यह सौंदर्य पूर्ण सत्य का है यानी कि वह मानवीयता की पूर्णता है। लेकिन वहां तक पहुँचने के लिए प्रसाद जी ने प्रकृति को उपकरण बनाया। इस प्रकृति तत्व को एक दर्शन के रूप में अथवा विचारधारा के सदृश्य कामायनी के हर तत्व में लीन है चाहे इतिहास हो, मिथक हो, दर्शन हो।

कहने का तात्पर्य है कि कामायनी का सौंदर्य

प्रकृति का है। प्रकृति के समस्त चराचरों में जब सौंदर्य देखने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है तब मनुष्य यथार्थ आनंद अनुभव कर पाएगा। कामायनी की प्रकृति मानववादी से मानवतावादी बनने का दृष्टांत है। मानवतावादी याने मानव को केंद्र में प्रतिष्ठित कर संकुचित दायरे में याने कि अपने में सिमटनेवाली देवसंस्कृति का दुष्परिणाम है शुरु में दिखाई पड़नेवाला वैदिक हिमालय। लेकिन मानवीयता को अर्थात् समस्त चराचरों को आश्लेषित करने के लिए समर्थ बननेवाला मनु अंत में जिस हिमालय में विराजमान है वह मानव हिमालय है। कामायनी में प्रसाद ने उसे शैव हिमालय यद्यपि कहा तो भी वह मानव जीवन का दिग्दर्शन कराता है, क्योंकि प्रकृति की अवस्थिति में रहनेवाला मनुष्य शांतिपूर्ण आनंद अनुभव करेगा। "मुक्त नील नभ के नीचे या कहीं गुहा में रह लेंगे।" टी.एस. इलियट ने यों कहा- "In the mountain you feel free" वहाँ मनुष्य स्वतंत्र है, एक ही तत्व की प्रधानता है, समस्त चराचर एकजुट होकर संघर्षातीत दिखाई देंगे।

मेघजी अपनी समीक्षा में यह उद्घोषित करते हैं कि 'कामायनी' का सौंदर्य प्रकृति का ही है। प्रकृति और सौंदर्य, सौंदर्य की प्रकृति तथा प्रकृति का सौंदर्य कामायनी की कांतिमान चेतना है। महाकाव्य में 'पुरुष' विहीना अकेली 'प्रकृति' है, भूतनाथ के तांडव अथवा जलप्लावन से त्रस्त प्रकृति है, विश्वसुंदरी प्रकृति है, त्रिपुरासुंदरी का रहस्य सौंदर्य है। चेतना का वरदान सौंदर्य है, गंधर्व देश की कामबाला का सौंदर्य है, गुहावासिनी गर्भिणी श्रद्धा का सौंदर्य, राष्ट्रस्वामिनी

इड़ा का सौंदर्य और हिमवती प्रकृति का सौंदर्य भी है। (पृ. 51) यहाँ मेघजी ने इस सौन्दर्य को रहस्यात्मक एवं दार्शनिक रूप प्रदान किया। कामायनी में सामाजिक या लौकिक जीवन के अभाव को सबसे बड़ा अभाव कहने वाले मेघजी इसके सांसारिक पक्ष का उद्घाटन करने में मेरे ख्याल से असफल हुए। कामायनी का आरंभ जिस प्रकृति वर्णन से हुआ वह जलप्लावन के बाद का है। आरंभ में ही प्रसाद जी ने कहा "एक तत्व की प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।" यहाँ सबसे महान विचार को प्रसाद जी ने प्रतिष्ठित किया कि इस संसार में कोई उच्च या नीच नहीं है, सब में एक ही तत्व विद्यमान है। इसके बाद प्रसाद जी जलप्लावन के कारणों की ओर हमें ले जाते हैं। देव संस्कृति के उपभोग की अति में सर्वनाश हुआ। उन्होंने इस संसार की समस्त चीज़ें अपने उपभोग की समझीं। उस स्थिति में उन्होंने प्रकृति को कुचल डाला, याने कि प्रकृति की हर चीज़ का दुरुपयोग किया। लेकिन प्रसाद जी इस तथ्य को हमारे सामने खोल देते हैं कि "प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मत में, भोले थे, हाँ तैरते केवल सब विलासिता के नद में।" यहाँ भौतिकवादी लोग समझते हैं कि प्रकृति और समस्त जीवजन्तु उनके विकास एवं उनके उपयोग के लिए हैं। देव संस्कृति के अतिउपभोग, विलासिता आदि से पृथ्वी जब कुचली गई तब प्रकृति की दुर्जेयता बनकर प्रलय मच गया जो उस संस्कृति के विनाश की वजह बन गया।

आज जब विकास के नाम पर प्रकृति का सीमातीत शोषण बगैर दूरदर्शिता के हो रहा है तब इसका दुष्परिणाम हम कई प्रकार से अनुभव कर रहे हैं। भौमताप, अम्लवर्षा, वंशनाश का सामना करने वाले जीव-जंतु, पिघल-पिघल कर समाप्त होने वाले ध्रुवप्रदेश, अनावृष्टि, काननों का जलना, तेल स्रोतों

से वंचित कुएँ, सूखी नदियाँ, टूटी हुई ओजोन परतें आदि मिलकर पृथ्वी एवं मनुष्यवंश के विनाश का नगाड़ा बजा रहे हैं। तब कामायनीकार की चेतावनी सबसे बड़े सामाजिक मुद्दे को प्रकाश में ले आती है। आज कामायनी इसलिए प्रासंगिक है कि आज हम और एक प्रलय के कगार पर खड़े हैं। अब गांव, जंगल और पहाड़ भी शहर में बदल रहे हैं। वहाँ किसी दिन हमारा जीवन भी वैसे ही किसी जलप्लावन में डूब जाएगा, जैसे हड़प्पा या बैबिलोनी सभ्यताओं के विनाश की खबरें पुरातात्विक वृत्तांतों से प्राप्त होती हैं। अलग-अलग सत्ताओं द्वारा अभिगृहीत है धरती। पूँजी और सत्ता के हर रोज़ फैलते साम्राज्य की अभियांत्रिकी के बुल्डोज़र्स किसी न किसी दिन मेट्रो रेल, फ्लाईओवर, किसी शॉपिंग मॉल, बांध, रुदान, उद्योग या किसी पांच-सात सितारा होटल के रूप में हर मलिन बस्ती में पहुँचते हैं। लेकिन सबसे बड़ा सत्य यह है कि जब हमारा जीवन किसी समृद्धि नगर या देश की संस्कृति को सुंदर और विकसित बनाने के लिए उजाड़ा जाता है या ऊर्जा और ईंधन के लिए डुबा दिया जाता है तो सिर्फ हम नहीं इस धरती से हिरण, तितलियाँ, पक्षी, हाथी, पीपल, पलाश, सागौन, शाल और तमाम वनस्पतियों समेत बहुधा ऐसे देवी-देवता भी डूब जाते हैं जो हजारों वर्ष पहले पत्थरों और पांडुलिपियों में इसलिए बस गए थे कि वे हमारी पीढ़ाओं को कम करें। हमारे चारों ओर का यथार्थ भयावह और सर्वव्यापी हिंसाओं से त्रस्त हुआ है। इसका इलाज कामायनी के प्रकृति सौंदर्य में निहित है।

मेघजी कहते हैं कि प्रसाद जी ने प्रकृति-नियति-संस्कृति की त्रयी बनाई है। प्रकृति के समस्त रूप कामायनी में चित्रित हैं। प्रकृति का उग्र, रूप, नष्टभ्रष्ट विच्छिन्न प्रकृति, प्रकृति का सहज रूप, प्रकृति का विराट दार्शनिक रूप, सभी से मिलजुल कर रहनेवाली

प्रकृति आदि प्रकृति के कई रूप कामायनी में हैं। इन रूपों को मेघजी ने दार्शनिक परिवेश दिया है, कभी-कभी आध्यात्मिक है। प्रकृति की इस सहजता के साथ मिलजुलकर जीने में समर्थ व्यक्ति ही संघर्ष से मुक्त होकर शांति एवं सुख का अनुभव करेगा।

मेघजी का मानना है कि कवि ने प्रकृति की शक्ति को भी विचारात्मक रूप दिए हैं। (पृ. 180) ठीक ही है प्रकृति दर्शन है कामायनी का मुख्य दर्शन। यह प्रकृति दर्शन भौमसदाचार (Environmental Ethics), साकल्यता (Holism), हरित आध्यात्मिकता (Green spirituality) पर आधारित है। भौम सदाचार प्रकृति दर्शन की आधारशिला है। भूमि का यथार्थ अधिकारी कौन है, भूमि के जैव एवं अजैव सत्ता को भी यहां अधिकार है या नहीं, इन सभी पर केंद्रित है भौमसदाचार। मनुष्य ही भूमि की दया पर निर्भर है, भौमसदाचार सदाचार का स्रोत इसे पहचानने में है। साकल्यता में इस संसार के सब जड़ एवं चेतन अभिन्न हैं। प्रकृति दर्शन की साकल्यता के केंद्र में आध्यात्मिकता है। इसे हम धर्मनिरपेक्ष हरित आध्यात्मिकता कह सकते हैं। आज की जरूरत इस हरित आध्यात्मिकता (Green spirituality) की है। प्रपंच सत्ता में जो अचेतन है उनमें भी जीवन के बुनियादी तत्व निहित हैं। अचेतन और चेतन के बीच का अंतर नगण्य ही है। भारत में जितनी विचारधाराओं का जन्म हुआ है उन सब में चाहे वह बुद्ध की हो या गांधी की या शंकर की, वे सब भेदबुद्धि को नकार कर समस्त चराचरों को समतुल्यता प्रदान करनेवाली हैं।

मनुष्य भूमि का मालिक नहीं है, उसका पालक मात्र हैं। हमें जो धरती मिली है उसे और भी सुंदर बनाकर अगली पीढ़ी को देना है। मनुष्य का जन्म प्रकृति से है। प्रसाद जी के अनुसार प्रत्येक अणु शक्ति

स्रोत है, उस अणु-अणु को संयोग से एक बड़ी शक्ति पैदा होती है। उस अणु की शक्ति का अथवा पदार्थ में निश्चित शक्ति को पहचानना अनिवार्य है। इससे मानव की जीत और अस्तित्व संभव हो जाते हैं या इन पदार्थों से ही मानव बनता है। चिंता सर्ग में यह अभिव्यक्त है कि पंचभूतों से निर्मित मानव शरीर को पंचभूतों के भैरव मिश्रण से समाप्त कर दिया गया। तब प्रकृति और मनुष्य में क्या अंतर है। पंचभूतों का शांत मिश्रण ही हमारे शांत वातावरणों के लिए अथवा सृष्टि का हेतु बनता है। जब कभी उनमें से कोई बिगड़ता है तब विनाश शुरू होता है। पर विनाश के बाद भी सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होनेवाले अणु का विश्राम रहित काम पदार्थवादी प्रसाद के उच्च वैज्ञानिक दृष्टिकोण के द्योतक होने के साथ ही प्रकृति के चराचरों के बीच के पार्थक्य बोध को भी समाप्त करता है।

मेघजी मानते हैं— “मिथकीय चिंतन में प्रकृति की भूमिका भी अनुपम होती है। मिथक का प्रारूप (मॉडल) प्रकृति न होकर समाज होता है। इसलिए प्रकृति सामाजिक जगत का ही बिंब हो जाती है। मिथकीय मानस में प्रकृति भी एक महान समाज हो जाती है जहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत, झरने की तरह उसका एक अंगमात्र होता है। कामायनी में वसंत (कामसर्ग) तथा प्रकृति (आनंद सर्ग) भी एक समाज है। उसमें प्रकृति की सृष्टि और माया दोनों ही मानवीय क्रियाधर्मों का निर्वाह करती है।” (पृ. 208) कामायनी में काम सर्ग और आनंद सर्ग ही नहीं हर सर्ग प्रकृति तत्व से निर्मित है। प्रकृति का उजड़ना, प्रकृति का निर्माण, प्रकृति का उल्लसित रूप, ये विभिन्न रूप कामायनी के सर्गों में व्याप्त हैं, वहाँ समाज ही बिंबायित होता है। मानव समाज की अवस्थिति प्रकृति के साथ कैसे और किस प्रकार होती है, इसका सही दस्तावेज ही है कामायनी। मनु और श्रद्धा मिलकर जिस जिंदगी

की शुरुआत करते हैं वहाँ प्रकृति की सादगी के साथ श्रद्धा जल्दी ही मिल जाती है। लेकिन मनु संघर्षाकुल है। मनु में पुरानी संस्कृति सक्रिय हो जाती है, वह पशुवत और हिंसा की है या उपभोग की है। वह प्रत्येक को अपने अधीन करने के श्रम में है। इसलिए श्रद्धा के समाज एवं प्रकृति दर्शन से वह मिल नहीं पाया। वहाँ से बिलकुल अतृप्त मनु दूसरे समाज में पहुँचता है तो वह भी एक ज़माने में उच्च स्थिति में था और आज उजड़ा हुआ है। वहाँ भी स्त्री की मदद से मनु समृद्ध समाज का निर्माण करता है। लेकिन सब कुछ अपनाने के मोह में वह प्रकृति याने समाज नाशोन्मुख बन गया। लेकिन अशांत मनु को शांत बनाने का जीवनोपाय के रूप में और जो पार्थक्यबोध मनु में विद्यमान है इसे समाप्त करने के लिए प्रकृति का रहस्य श्रद्धा खोल देती है। तब प्रकृति का सबसे आनंदपूर्ण रूप प्रकट हो जाता है, चाहे इसे प्रकृति का त्रिपुरसुंदरी रूप कहे। कामायनी का दर्शन असल में जीवन दर्शन है, वह जीवन दर्शन प्रकृति दर्शन से अलग नहीं है। मेघजी इसे 'मिथक' से 'स्वप्न' की ओर छलांग कहकर कामायनी को फंतासी या यूटोपिया के स्तर तक पहुँचाते हैं।

“प्रसाद ने देवसृष्टि, गुह-सृष्टि, सारस्वत नगर, त्रिलोकैक्य तथा कैलाश लोक के माध्यम से पांच प्रकार की यूटोपियाओं के मॉडल पेश किए हैं जिनमें से केवल अंतिम दो को उन्होंने श्रेय एवं श्रेष्ठ माना है। यही उनकी “कामायनी-यूटोपिया का रचना-गठन (structure) तथा उनके यूटोपियन मानस का रूपाकार (pattern) हैं।” (पृ. 203)। लेकिन उन्हें यूटोपिया कहना संगत नहीं है। यहाँ मेघ जी ने कहा कि यह रचना मिथक है कामायनी का मिथक इस भूमिका को निभाता है और मिथक में प्रकृति की भूमिका बड़ी है। तब मनुष्य और प्रकृति की अवस्थिति

जब टूट जाती है तब प्रकृति में आनेवाले परिवर्तनों के दृष्टांत हैं देवसृष्टि, सारस्वत नगर आदि। प्रकृति और मनुष्य का मेल है गृहसृष्टि एवं कैलाश लोक में। त्रिलोकैक्य में मनुष्य जीवन का रहस्य खुलता है। प्रसाद ने अपनी कल्पना या सही प्रयोग किया। वहाँ आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि हुई है। लेकिन वह आधुनिक मनुष्यता को आदर्श जीवन बिताने का मार्ग प्रशस्त करने वाला संदेश है। भौतिकता पर मात्र केंद्रित मनुष्य का पतन है इड़ा एवं संघर्ष सर्ग में। आधुनिक युग में भौतिकता की जो अति हो रही है, इससे प्रसाद जी चिंतित हैं। वहाँ मानववादी बनने के बदले मानवतावादी बन जाते हैं प्रसादजी। इसके लिए प्रसादजी ने आध्यात्मिकता का भी सहारा लिया है। मानवतावाद में समस्त प्रकृति के साथ मनुष्य की अवस्थिति है। मनु का मानव के रूप में वह जागरण है आनंद सर्ग में। मेघजी ने इसे यूटोपिया कहा। लेकिन यह है कामायनी का सौंदर्य। याने कि यह कामायनी का असली दर्शन है। यहाँ प्रसाद जी भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वय कर भारतीय दर्शन का दिग्दर्शन कराते हैं। वह प्रसादजी की सामाजिक पक्षधरता है, यह बिना संदेह के साथ कहा जा सकता है। कभी भी वे समाज के प्रति अपने दायित्व को छोड़ने को तैयार नहीं हुए।

मनु एक आधुनिक मानव के सारे मानसिक कार्यव्यापारों से गुज़रता है। उसके जीवन के उतार-चढ़ाव के माध्यम से आज के मानव जीवन की गुंथियां प्रकट हो जाती हैं। वहाँ एक विवेकी स्त्री का दायित्व शब्दातीत होकर पेश किया गया है। स्त्री की समन्वयात्मक भूमिका मानव जीवन को सुदृढ़ करने और दृष्टिबोध प्रदान करने में उम्दा है। पृथ्वी में पुरुष जिसे दुर्बल या अपने दमन के शिकार बना देता है उन सब में निहित चैतन्य तत्व का सौन्दर्य श्रद्धा के माध्यम से उद्घाटित

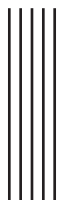
॥ मूल्यांकन ॥

होता है। यह प्रकृति और स्त्री की समानधर्मिता से प्राप्त विवेक है। इससे मनु जब अवगत हो जाता है, तब कामायनी अपने उद्देश्य पर पहुँचती है। कर्म सर्ग में श्रद्धा का मनु से सवाल है— “वे प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगत के, / उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके!” दूसरी जगह श्रद्धा मनु से और भी सवाल करती है— “अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा? / यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा... / सुख को सीमित कर अपने में केवल दुख छोड़ेंगे / इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपने मुँह मोड़ेंगे।”

मेघजी ‘विचारधारा’ तथा ‘कल्पलोक का अभिधान’ में कहते हैं कि कामायनी में विश्व, मनुष्य, प्रजा, राष्ट्र, शासक, प्रजातंत्र, नियम, न्याय आदि की परिभाषा दी गई है। प्रजातंत्र में जनता राजा के अन्यायों का एकजुट होकर विरोध करती है। वह जनशक्ति है सबसे बड़ी शक्ति। यह है लोक शक्ति गरिमा। आज हमारे देश के लिए यह माँग जरूरी है। क्योंकि

आज प्रत्येक सत्ताधारी ‘फूट डालो राज करो’ शासन नीति अपनाता है। तब जनता विचलित हो जाती है। लेकिन उन्हें एक साथ मिलकर बुरी शासन व्यवस्था का विरोध करने का संदेश कामायनी से प्राप्त है। ये सब समरसता का ‘अन्य’ नहीं के बोध से उत्पन्न है।

ठीक है प्रसादजी ने कल्पना के प्रयोग से अपने स्वप्न लोक की सृष्टि की है। वह स्वप्न न रहकर यथार्थ बनना आज की माँग है। आत्यंतिक रूप से यह कहना चाहती हूँ कि साहित्यिक नीति जैव नीति है। यह नीति कामायनीकार ने सार्थक कर दी। वैसे ही यह उपनिषदीय सवाल भी कामायनी के संबंध में सही निकलता है कि पृथ्वी और इतिहास के लिए हर रचना जो प्रदान करती है उस पर निर्भर है उसकी महत्ता। कामायनी इन सभी परिपेक्ष्य में सार्थक रचना साबित होती है। मेघजी ने अपनी विद्वत्ता का प्रयोग कामायनी-विवेचन में किया। कामायनी के अनेक पक्षों का उद्घाटन भी हुआ है। लेकिन मेरा संदेह है कि समय को लाँघने में समर्थ समरसता के प्रकृति दर्शन को वे कहाँ तक नाप सके।



9495839796
अभिरामम, सुरभी रोड
इटपल्ली पी.ओ., कोच्चि - 682024



अकुंठ बयान

-रमेश कुंतल मेघ

मुक्तांचल, अंक - 18, अप्रैल-जून 2018

हाँ, मैं संभावनानुमान कर रहा हूँ कि आज, सोलह फरवरी 2018 को साहित्य अकादमी में मुझे कोई भारी मुश्किल व्याख्यान ना देकर आत्ममंथन तथा अपने मनोसामाजिक विकास के कुछ तथ्य आत्मोद्घाटित करना है जिन्होंने मुझे एक ग्राह्य स्वनाम चिंतक बनाया है। इसका मूल कारण है कक्षा के बाद से विभिन्न कॉलेजों तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी तक का विज्ञान में संश्लिष्ट गणित, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र में बी.एस.सी तक का छात्र होने के नाते मेरा हिंदी का भाव प्रधान भाषा तथा हिंदी साहित्य से कोई विशेष नाता नहीं रहा। किंतु मैं तो समीकरणों (इक्वेशंस) नियम सूत्रों (फॉर्मूलों), वैज्ञानिक ज्ञान पक्षों का ही अनुवर्ती रहा। एम.ए. हिंदी में प्रवेश करते वक्त मुझे न तो हिंदी साहित्य और उसके कालों, आचार्य शुक्ल और अन्य महारथियों के प्रमुख मौलिक ग्रंथों का नहीं के बराबर ज्ञान था। सब कुछ का मैंने अपनी वैज्ञानिक वृत्ति तथा बुद्धि से छः माहों में आहरण किया फिर हिंदी में पीएच.डी. के वक्त मेरे परीक्षक महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने सलाह दी कि "कविता-कहानी" में लिखने वाले कोई सैकड़ों हैं कि तुममें ज्ञान तथा तर्कदर्शन की क्षमता है। अतः इसी ज्ञान धारा को शिरोधार्य करो कुछ महत्वपूर्ण प्राप्त करो। मैंने उठकर प्रणाम किया "महापंडित आपका आदेश शिरोधार्य है।" मेरे गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एकटक अवलोकन कर रहे थे।... और सन् 1956 के बाद से मैं पुनर्नवा होकर संस्कारित हो गया। आज मैं आपके सम्मुख विनम्र, वैसा विनीत हूँ।

तो अब मैं आत्मकथनात्मक आत्माभिव्यंजना ही करूंगा- सबसे पहले 'शब्द' के 'गद्यप्ररूप'। विधा

से साहित्य कला में अनुप्रवेश करने के लिए प्रतीक तथा प्रतीकों में समीकरण-सैद्धांतिक सूत्र ज्यादा अनुकूलित रहे।

मुझे सर्वप्रथम यह अहसास हुआ कि साहित्य में "शब्द" तथा उसके विविध "अर्थ" तो एकांगी हैं जबकि विज्ञान में आरेख, प्रतीक, चार्ट, समीकरणों में से भी पारदर्शन करते हैं। सो, शब्द में चित्र (अलंकार), ध्वनि (छंद, ताल, संगीत), मूर्ति (नाटक की अभिनीत मुद्रा), प्रकाशन (अभिधा से फंतासी आदि) और नाना सांकेतिक चिह्न, प्रतीक-ब्रीड़ा क्रोड़ आदि हैं। इस तरह मैंने जो रूपांतरण किया उसमें भाव से सूत्र (सूक्ति), मंत्र (सारल), चिह्न (गणित), पारिभाषिक कुलक (सैट्स) प्रतीक, चिंतनीय व्याख्या और वाक्य तथा निर्णय शामिल हो गये। इस तरह 'मेरी यात्रा' का विज्ञान-साहित्य-कला का जो त्रिपुर बना जिसमें अर्थ के सहवर्तन में अभिनीत एवं निष्पादित से चित्र सौंदर्य तथा मुद्रा संवाद उसके अभिन्न अंग हो गए।

अब मेरी दूसरी मुश्किल वृत्तांत (नैरेटिव) की उभरी। क्योंकि विज्ञान में कथन तथा कथात्व बहुत विरल होता है, इसलिए मैं पाठ्य के पाठों (कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि) में वृत्त-वृत्तांत, कथाई तथा कथात्व (थीम) से जुड़ा:

पात्र तथा घटनाएँ मिलकर विवरण एवं संवाद को गूँथती है और सभी एक वृत्त जैसा बनाती हैं जो वैज्ञानिक आदि मध्य अंत से मिलकर "वृत्तांत" होता है। ऐसे में यदा कदा, परोक्ष तथा अमूमन प्रकट होकर पात्र में घुल जाया करता है। अथच शैली तथा विधा का विन्यास करता मिलता है। तब आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा 'शेखर: एक जीवनी' ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

इससे जुड़कर प्रकृति-आच्छादन में देहभाषाओं के स्वरूपों ने मुझे चिह्न, संकेत, मुद्रा, आरेखों की संदृष्टि तथा 'व्याख्या' की सूझबूझ भी सौंपी। फिर 'उसने कहा था', 'तीसरी कसम', 'लंदन की एक रात', 'गदल' आदि ने मुझे कई राहों और मोड़ों में विभिन्न समीकरणों के जैसी दिशाएँ दिखाईं।

खूबसूरत नैरेटिव को शोभपूर्णता के साथ घटनाओं का अतिक्रमण करना पड़ता है। विपर्ययों (आशा कम, विश्वास बहुत)। एकाग्रता या एकपात्रता में वह चेतना प्रवाह में बुनाई करती है।

अतः 'वृत्तांत तथा व्याख्या' कथा को सार्थक बनाते दिखे हमारी Q.E.D. की भांति। यही कहानीपन की धुरी की गतिशीलता है जो उसे शिथिल (slow) या दौड़ (race) दिखाई देने लगेगी।

अतएव एकरूपी बेहद "उत्तेजक गद्य" तो गद्य के यौन (genre) को लांगते हुए आदिवासियों तथा ग्रामजनों के इतिहासों, ऐतिहासिक रोमांसों की मिथकीयता छाया के रहस्य उद्घाटित करते हैं—चमत्कृत भी करते हैं (बहुत पीछे जैसे) परंतु वे 'प्रोटोशिव' की तरह 'प्राक्तन भाषा' में जादूगर भी हो जाते हैं—मसलन 'मुर्दों का टीला' वाले रांगेय राघव, मैत्रेयी पुष्पा, महाश्वेता देवी आदि। प्रकारांतर से नाटकों की अभिनीत निष्पादि भाषा तो चित्र, वास्तु, मुद्रा का चमत्कार रस निष्पादित करती है।

अब दूसरे हाशिये पर काव्य की बारीकी ने मुझे बहुत ज्यादा अक्ल सौंपी।

रचना-सिस्टम के सृजन-संसार में काव्य की कविता के अंतरंग तन्मयीभवनीय पाँच मिनट ही "भव्य संरूप" होते हैं। इन्हें विटगेंस्टाइन, नोम चॉमस्की प्रभृति 'भाषा-क्रीड़ा', भाषा निष्पादन आदि से परिभाषित करके ऐश करते हैं। बहुत कुछ हमारी ऋषि अरविन्दो

कृत 'भावी ऋचा' के समक्ष जताकर। इसके समानांतर हमें काव्य में आभिजात्य तथा कविता में लोकजन का निरंतर द्वैत-द्वंद्व जारी रहा है।

फिलहाल हमारी वैज्ञानिक समझ के लिए काव्य में तहे रूपक (मेटेफर) एक व्याकरण के जैसा प्रतीत होता रहा जिसके आयाम सादृश्य, सारूप एवं साधर्म मिले। दो धूरियाँ हैं—उपमा और सहकारिता। इनके विस्तार में इतर या परे तो उत्प्रेक्षा भी है। 'बिंदू' तो सूत्र रूप में कविता का भाव विचार प्रवाह होता है मिला।

कविता के फ़िल्मीय सिस्टम में बोल (कवि), लय (संगीतज्ञ), गान (गायिका, सार्जिंद) अभिनेता (कर्त्ता) तथा निर्देशक (डायरेक्टर) का पंचयोग होता है। कविता में परिणयपूर्ण सदियों का भी सिलसिला है, कहाँ से यहीं. यहाँ से वहाँ, इससे... उसका आदि का। उसका...। ऐसी कविता का शताब्दियों पर अभियान है जो रूपक तथा तुलना को व्याकरणता का भी अनुसंधान देता है। सो कविता कल्पना से भी आगे भाषारूपों की भी खोज करती है। वह कल्पना से आगे-आगे यथार्थ और फंतासी सूत्र में, फिर और आगे नारे, पोस्टर और सपाटबयानी में भी संलिप्त करती होती है। इसलिए नये शब्द गढ़ना, नई अभिव्यंजनाएँ संवारना, पारिभाषिकों एवं तार्किकता से इतर-उतर बढ़ना तथा शिशु, नारी से लोक को शामिल करना, अर्थात् प्राक्तन भाषा की पुनर्यात्राएँ करना आदि आज भी कविता को सार्वकालिक सार्वजनीन बनाए हैं।

जी हाँ, प्राक्तन भाषा (प्रोटो लैंग्वेज) से यही तात्पर्य है। बस मोहनजोदरो के उस पाल्थी मारे शिव तथा बाएँ में हाथ धरे एकल नाचनी को भी समझें। रहस्य खुलने लगेंगे।

उक्त संदर्भ (विजन) में प्राक्तन भाषा ही मानवीय मुद्रा भंगिमा की उद्गामी गोधूलि है। यह अनगढ़ तथा

॥ ब कलमे खुद ॥

अर्द्धाभिव्यक्त दशा है। (पश्यंति- मध्यमा वृत्ति की) जिसमें मुद्राएँ, ध्वनियाँ तथा सांकेतिक गुंजन और कुछ वाक् का सम्मिश्रण है। शायद यही भाषा “होमोसेपियंसों” की आदी भाषा हुई थी। इसे होमो इरेक्टस बोलते रहे हैं। आज भी नवजात शिशु होते हुए मानव की आदिभाषा दो शब्दों वाली होती हैं— (मामा— आ, खाना— खा)। अतएव मुद्राएँ, चीखें, आहें, कराहें, किलकारियाँ तथा कुछेक अस्फुट शब्द मिलकर प्रोटो-भाषा बनाते हैं।

निष्कर्ष में भाषा-पूर्व में उसके चार रूपों (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) में से प्रथम दो में इसका आश्रय है।

भाषा को पूर्णकाल पूर्णतुष्ट करने में आधुनिक युग में दो का मेल या द्वैत होता है।

यहाँ फेनामेना बनाम वस्तु का द्वैत-द्वंद्व है। पहला बिंब नी कहा तो दूसरा गणित अभिसारी संख्या का विधाता है।

एस्ट्रो (भौतिक), बायो (जैविक), Bio (प्रकृत) से संयुक्त होकर हमें कविता में कला-मानविकी युगल भी अन्य अनुशासनों का विधान करते हुए मिलते हैं, यथा-समाज-राजनीतिक, सामाजार्थिक, समाज-सांस्कृतिक, भौतिक-रासायनिक प्रतिक्रियाएँ आदि-आदि। यहाँ हमें लोक बनाम नागर (फॉक एंड अर्बन) तथा पावन बनाम इहलौकिक (सेकरेड बनाम प्रोफेन) के आधुनिक वैज्ञानिक सांस्कृतिक कलात्मक आयामों

का नतीजन चित्र (लिपि) से इतर भाषा अपने जीवाश्म (फॉसिल) नहीं छोड़ती। अथच विज्ञान से दूरी तथा मानवीय अवचेतन मिलकर भाषा को मिथकत्व से संपृक्त किए रखते हैं। इसी वजह से गुफा मानव ने पहले पहल लिपि चित्र तथा प्राक्तन भाषा का अनगढ़ विधान किया था।

तथापि इस समय देश में युवा तथा युवापीढ़ी सक्रिय है। पूर्ववर्ती कविता के जनपद की जो विरासत है उसमें कबीर-तुलसी-निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन-मुक्तिबोध, धूमिल, कुमार विकल के अलावा विचार भावशील अज्ञेय, शमशोर, श्रीकांत, रघुवीर सहाय, गिरजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण ने दसा-दिशाएँ गढ़ी हैं। यह स्पष्ट है कि पीढ़ियों में जनपद और आभिजात्य के बीच अनवरत अंतराल है। इसी तरह जातीय परंपरा और भारतीय आधुनिकता के बीच कई अंतर्विरोध उभरते हैं।

अतः युग और युगबोध के जो सवाल जारी थे। वे सदैव जारी हैं और जारी रहेंगे। हम उन्हें आयत्त करते रहेंगे। आधुनिकतावाद में (आत्मनिर्वासन, वैयक्तिकता, परंपरा का पुनर्नियोजन), प्रगतिशील संघर्ष में, प्रयोगवाद कई रूपों में नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल, केदार, कुमार विकल।

इसी तरह आज देश में तीन-चार रहे हैं ज्वालामुखी सुगबुगार हैं— किसान, मजदूर और दलित, आदिवासी।

क्या भवभूति की नाट्य-चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से भी अनुप्रेरित है?

- रमेश कुंतल मेघ

(मुक्तांचल, वर्ष : 3, अंक : 8, अप्रैल-जून 2016)

यह प्राक् कल्पना (हाइपोथीसिस) सचमुच बेहद मुश्किल है। कई दशकों के बाद अब इस विलक्षण सौंदर्यबोधशास्त्रीय (एस्थेटिक) दशा से हमारी मुठभेड़ हो ही रही है। यह ज्ञान की अवश्यकता तथा महाप्रश्न जो है।

पहली समस्या खंडित मूर्तियों, भग्न वास्तुनिर्माणों एवं कटे-फटे गले चित्रफलकों के जीर्णोद्धार (रेस्टोरेशन) के साथ-साथ उनकी पुनर्निर्मित की रही है। इसी की पूरकता अधूरी कलाकृतियों के पूरा बनाने की है। यहाँ बहुकालिक (डायाक्रोनिक) विधानों को समकालिक (सिन्क्रोनिक) व्यास रेखा पर लाकर उनके "समग्र जेस्टाल्ट" गढ़ने की रही है। आज तो कम्प्यूटर इनकी सक्षम त्रिआयामी छवि रचना कर देता है। भारत में इस तरह की विभिन्न प्रकारेण विविध कलावस्तुओं (आर्टिफेक्ट्स) की संख्या एक दो में नहीं, हजारों-लाखों में है। अब यह संग्रहालय विज्ञान (म्यूजियमोलॉजी) का विषय भी बन गया है। फिलहाल हम इससे रुब-रु नहीं होंगे।

संप्रति हम एक दूसरी ही जटिल समस्या का मुकाबला करने जा रहे हैं कि सौंदर्यबोधशास्त्र की "स्थानांतरण-प्रौद्यौगिकी" (ट्रांसफर टेक्नोलॉजी) को कैसे समसमय-समुन्नत किया जाए? जहाँ हमारा सरोकार बौद्ध अजंता (ई.पू. 200-ई.पू. 650) के वास्तु-शिल्प-चित्र की त्रयी में से भित्तियों में आलेखित चित्रदीर्घाओं को काव्यनाट्य में अंतरित करने, तथा वैष्णव नाटककार श्रीकंठ भवभूति (ई.पू. सातवीं सदी) के "उत्तररामचरितम्" नामक काव्य नाटक (के प्रथम अंक) में वर्णित रामचरित के आरंभ से लेकर सीता की अग्निदीक्षा तक सौशब्द वृत्तांत को चित्रकला में

रूपांतरित करने वाला है अर्थात् नयन को वाणी में, और गिरा को नयन में करने वाला है। यह आधुनिक एवं अंतर्भुक्त सौंदर्यबोधशास्त्र के परिमंडल में काव्य और नाटक की, चित्र और काव्यनाटक की, संरचना (स्ट्रक्चर) और संकेत विज्ञान (सेमिओलॉजी) की, भव्य वृत्तांत (ग्रेड नेरेटिव) और विनिर्मित (डिस्कांस्ट्रक्शन) आधि की आधुनिक टेक्नोलॉजी को चुनौती भी है। इतने विषयों और परिभाषाओं का हमने जो हवाला दिया है, वह रास्तों के अन्वेषण की संभावित दिशाएँ हैं। सचमुच बड़ी मुश्किल है!

हमारा यह अध्ययन प्रभाव का कतई नहीं, बल्कि अनुप्रेरणा का है। कारण कि अजंता की चित्रकला बौद्धकला है और "उत्तररामचरितम्" नाटक विष्णु के अवतार से संबंधित है। दूसरी ओर दोनों के बीच आठ से दस शताब्दियों की दूरी तीसरी ओर दोनों के माध्यम क्रमशः दृश्य और श्रव्यदृश्य हैं। चौथी ओर इनके सांस्कृतिक प्रतीक, अभिप्राय तथा भू-दृश्य में भी यथेष्ट अंतर है। यद्यपि बाद में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया था, लेकिन बौद्ध करुणा-सिद्धांत तथा भवभूति द्वारा करुण रस को ऐकल महत्त्व देना ही हमें प्रेरणा के बिंदु तक ले जाते हैं। इसके अलावा आंध्र-सातवाहनों से लेकर पल्लवों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों तक दक्षिण और उत्तर में सार्थवाहों का जाल फैला था। पद्मपुर में जन्मे भवभूति दक्षिणात्य थे। इन कारणों से हम परवर्ती भवभूति पर समानांतरता के न्याय से अनुप्रेरणा प्राप्त करना मान सकते हैं। इसके लिए हमें आगे ही एक नवीन विधा (यॉनर) में भी इतिहास के "जादुई यथार्थवत्ता" के जैसा प्रयोग करना पड़ रहा है।

अब ई. पू. सातवीं शताब्दी हैं। दक्षिणापथ में बौद्ध अजंता और बाघ की चित्रदीर्घा, सिद्धनवासल में जैन-अजंता की चित्रवीथी तैयार हो चुकी हैं। इल्युरा तथा हाथीगुफा की शैव शिल्पकृतियाँ अधिष्ठापित हो रही हैं।

वैष्णवों की कोई भी प्रमुख चित्रवीथी नहीं है तथापि रामेश्वरम्, तिरुपति, श्रीरंग में उनके वृहद गगनचुंबी मंदिर चमत्कृत करने को बनने लगे हैं, शनैः शनैः।

तभी कई शताब्दियों के बाद (छायारूपों में) तथागत बुद्ध अपने शिष्यों के साथ अजंता को देखने आए हैं। साथ में सारिपुत्र, मौगल्यायन, आनंद आदि भी हैं। वे अजंता की गुफाओं तथा उनमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की, अवलोकितेश्वरों की चित्रगाथाएँ अवलोकित करके बेहद चकित हैं। अब वे गौरांग पद्मपाणि अवलोकितेश्वर तथा साँवले वज्रपाणि अवलोकितेश्वर के सामने खड़े हैं (मानों वे श्याम राम और गोरे लक्ष्मण के जैसे हैं)।

बुद्ध कहते हैं : “मैंने तो निर्वाण का मार्ग बनाया था ताकि आत्मा दुःखपूर्ण संसार में आवागमन के चक्र से मुक्त हो सके। किंतु यहाँ तो वनों और संघारामों में घूमने वाले महायानी भिक्षु-भिक्षुणियों ने कई कथित पूर्वजन्मों में, मेरी कई योनियों की अनेक जातक-कथाएँ चित्रित कर दी हैं। यहीं नहीं, भविष्य के बोधिसत्त्वों एवं अवलोकितेश्वरों द्वारा धर्मचक्र परिवर्तन करा डाला है। उन्होंने अब यहाँ मुझे “भगवान” ही बना दिया है। यहाँ तो अवस्ती का चमत्कार भी अंकित है वहाँ थेरी यशोधरा और पुत्र राहुल के सामने मैं हूँ। चलो, चलें।”

आनंद उन्हें यशोधरा-राहुल के पटल के सामने ठहरा देते हैं। वे अबोधपूर्वास्मृति को साक्षात् करते हुए कहते हैं कि इस दुःखमय संसार तथा जीवन से नारियों को भी तो विमुक्ति मिलनी चाहिए। सो, मैंने नारियों को भी संघ में प्रवेश करा लिया। वे धर्मसंघ में मेरी शरण पा रही हैं। उन्हें संसार-प्रपंच की अग्नि से बचा लिया गया। नारी मुक्ति की दिशा खुल गई

है। वे स्वाधीन भिक्षुणियाँ हैं।

सारिपुत्र आगे जोड़ते हैं कि “हे भगवन!... राहुल की परंपरा में आगे ऋषिपुत्री शकुंतला के पुत्र भरत हुए जिनके नाम से आर्यावर्त भारत कहलाया। इसी तरह आपसे बहुत पहले अयोध्या के रघुवंसी महाराजा श्रीराम द्वारा पुनः वन में त्यागी गयी महारानी सीता के दो तेजस्वी पुत्र जन्मे थे जिन्होंने दिग्विजय के अश्व को रोककर युद्धजन्य चक्रवातित्व को चुनौती दी थी। कालचक्र स्तब्ध हो गया था।”

“हाँ, हाँ, धर्म चक्र-प्रवर्तन। यही तो रामराज्य का भी श्रेय है।” सात्पुत्र मौगल्यायन पूछते हैं— “इन गुफाओं के भित्तिचित्रों की महायात्रा कैसी हुई है, प्रभु?”

तथागत— “अहो, सारिपुत्र! पंद्रह बीस शरदों (शताब्दियों) के पश्चात् यह अजंता-उपत्यका सघन वनाच्छादित हो जाएगी, किंतु मैं भविष्य का संदर्श कर रहा हूँ...। ऐसे सुदीर्घ महाकालशयन के पूर्व-दक्षिण के महासिंधुओं और उत्तर के हिमालय पार के चीन देश में तुंगह्वांग में, मंगोल देश के अश्वदान में, गांधार क्षेत्र के बामियान में, यवद्वीप के बर्द्धभूधर (बोरोबुदुर) तक में अजंता की धर्म कला की महिमा छा जाएगी। अनेक शिष्य देश देशांतरों में जाएंगे। वे शांतरक्षित, धर्मकीर्ति, पद्मसंभव, कश्यपमातंग, भहारगुरु, महास्थविर होंगे।” आनंद— “हाँ, प्रभु! एक दाक्षिणात्य युवा कवि भी कई बार इनके फेरे लगा रहा है। वह अपना श्रीकंठ और उपनाम “भवभूति” बताया है। पद्मपुर में जन्मा है। उसने एक नाटक भी लिखा है: “महावीररचित” नाम से।”

गौतम बुद्ध : “हाँ SSS वही भवभूति! मेरी महाकरुणा के सामाजिक उपदेश को वह रस समाधि द्वारा करुण रस के रूप में दिगदिगंत में फैलायेगा। वह वनवासिनी रानी सीता के दो यशोधर पुत्रों लव और कुश के द्वारा अजंता के जैसा काव्यात्मक कायांतरण भी कर डालेगा।.... वह श्रीराम के उत्तरचरित पर भी नाटक लिखेगा जिसमें ये चित्रदीर्घाएँ अवतारी श्रीराम के योगीश्वर वनवासी जीवन पर चित्रकार आर्य अर्जुन

की सहायक होंगी। अजंता के चैत्यों को अयोध्या के श्रीराम के वासगृह में स्थानान्तरित कर देगा, वह विद्रोही! ये गुफाएँ ही आश्रम में बदल जाएँगी।”

आनंद- “तब तो वह इस विपुल पृथ्वी में आगत कई शताब्दियों तक उपेक्षित रहकर भी करुणा को आनंद में अभ्युदित करता रहेगा। यह उसका प्रारब्ध होगा।”

सारिपुत्त मौगल्यायन- “ऐसा ही हो!!”

तथागत ने तथास्तु कहा।

(समस्त योगमाया अंतर्धान हो जाती है)

(3) अजंता के इतस्तवः अवलोकनों के अनंतर भवभूति ने भोजपत्रों के पुलिन्दों पर जो टीका टिप्पणियाँ लिखी थीं उन्हें वे अपने साथ कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन (ई.प. आठवीं सदी) की सभाओं में ले जाते रहे होंगे। अनेकानेक लोकश्रुतियों द्वारा छनती हुई वे बातें आज तलक भी मिथकीय निजंधरों के प्रत्याभास में प्रचलित हैं। तदपि यह अनुमान मात्र हैं। ठोस प्रमाण सिद्ध नहीं हैं।

आज हम उन तथाकथित टीका-टिप्पणियों के आधार पर अनुमान लगाते हैं कि नाटककार भवभूति दर्शनशास्त्र के भी अध्येता रहे होंगे। शायद उन्होंने बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत सामान्य या जाति की कल्पना के बजाय लोक में व्यवहारी पुरुष की दृष्टि में अनेक एकविध विषयों में अभेद की प्रतीति के सिद्धांत को रामचरित विषयक चित्रावली, पात्र राम सीता लक्ष्मण द्वारा चित्रावली-दर्शन तथा प्रेक्षकों द्वारा साक्षात् रामसीतादि के प्रत्यक्षण को ज्ञानोपाधिपरक अनुकृति माना है। उन्होंने वेदांत के रजत-शुक्ता-रूपक को वास्तविक भ्रांति वाली प्रतीति को भी संशोधित करके स्वीकार किया है। उनको “कामसूत्र” में यशोधर द्वारा भष्यकृत चित्रकला के सङ्गों तथा “विष्णु धर्मोत्तर पुराणों” की भी गहरी समझ लगती है।... हम उन तथाकथित टीका-टिप्पणियों से उनके बौद्ध कला दर्शन और उपरांत में “उत्तर रामचरितम्” में नाट्यपरक चित्रदर्शन, में धारावाहिकता का भी अंदाजा लगाते हैं कि महायान-शाखा में नागदेव-देवियाँ, कुबेर यक्षादि,

हारीति जैसे बहुजन के देवताओं को स्वीकार कर लिया गया। उसकी विचारधारा में बोधिसत्त्व में ही बोधि प्राप्त करने के सब तत्त्व विद्यमान हैं (“उत्तररामचरितम्” के रामसीतालक्ष्मणादि में ही साक्षात् राम सीतालक्ष्मणादि का नट-रूप “अभेद”)। बोधि प्राप्त करके वे बुद्ध हो जाते हैं। इसके लिए इच्छारहित होना पड़ता है जिससे कि बोधिसत्त्व में दुखी जन लोकजन समुदाय के प्रति क्षमा-करुणा का भाव तथा निवृत्ति की कामना रहे। इसे वे अपने बुद्धत्व के हित के लिए त्यागना नहीं चाहते। (इसी उपक्रम में अवलोकितेश्वर या पद्म-वज्रपाणि विष्णु जैसे) (पद्म-गदा-चक्रधारी) संस्थापक हो गए।

अजंता में बुद्ध के मानवीय जीवन की बहुत-सी घटनाओं को बेहद महत्त्व दिया गया है और संग-संग बुद्ध के पिछले जन्मों के पशु, पक्षी एवं अन्य रूपों की गाथाओं को भी बड़ी महत्ता मिली है। अतएव हीनयानियों के नाम रूपातीत बुद्ध यहाँ पद्मपाणि-वज्रपाणि हो गए। वे एक बार स्वर्णमृग की योनि में, एक बार वानरयोनि में भी पैदा हुए माने गए। एक महाजनक जातक भी है जहाँ मरणासन्न राजकुमारी मिलती है (शायद भवभूति ने मृग एवं वानर के साथ विरह विदग्ध राम का लीलाहीन मानवीय रूप यों भी उभरा होगा।) इस भाँति भवभूति ने “उत्तररामचरितम्” नाटक के प्रथमांक में विष्णु-अवतार श्रीराम की काव्यनाट्यपरक लघु अजंता की परिकल्पना कर डाली है। आखिर हम साँझी सांस्कृतिक विरासत के खजाने से ही तो चुनते हैं। इसके पहले श्रीकंठ कालिदास से खूब प्रभावित रहे थे क्योंकि दोनों का प्रकृति प्रेम भी प्रगाढ़ है। महाकवि के “मेघदूत” से प्रभावित होकर पहले तो उन्होंने “महावीरचरित” में मिथकों की स्वच्छंद व्याख्याएँ करते हुए प्रकारांतर से अपनी मौलिकता के सबूत दिये हैं इसमें भी राम-सीता-लक्ष्मण-हनुमानादि द्वारा पुष्पक विमान में आरुढ़ होकर आकाश मार्ग से लंका से अयोध्या तक की वापसी की यात्रा का वृत्तांत है। इसमें राम-सीता को पृथ्वी के उन विभिन्न स्थलों के (अधोमुखी परिदृश्य (पर्सपेक्टिव) द्वारा) शब्द चित्र रचते हैं जिनसे

मार्मिक भावदशाएँ अथवा महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। “मेघदूत” में भी आषाढ़ के प्रथम दिवस वाले मेघ ने आकाशमार्ग से रामगिरि से हिमालय की अलकापुरी तक की यात्राएँ की हैं। भवभूति ने भी साम्यरूपकता से भूचित्रों का भव्य आत्मकथात्मक वृत्तांत राम-सीता संवादों में दृष्टिगोचर कराया है। इस प्रसंग में घटना की अपेक्षा संवाद की प्रमुखता है। इसीलिए यह खंड एक शानदार भव्य वृत्तांत (ग्रैंड नैरेटिव) है। “उत्तररामचरितम्” में भी चित्रधुरी पर उनके भव्य वृत्तांतों का सारांशी निदर्शन (इलस्ट्रेशन) हुआ है। सनद रहे कि कालिदास और भवभूति के बीच लगभग चार शताब्दियों का फर्क है।

4. आखिरकार जब दक्षिणापथ में शैव और जैन संप्रदायों का प्रभुत्व था तब आठवीं शताब्दी में भवभूति ने दो बार रामवृत्तांतों को क्यों लिखा? क्यों उन्होंने लंका से अयोध्या तक की यात्रा को काव्यकला (महावीरचरित) तथा चित्रकला (उत्तररामचरितम्) में सहक्रमिकता दी?

कुछ अन्य पारिस्थितिक प्रमाणों का प्राक्कल्प (हाइपोथीसिस) किया जा सकता है। दक्षिणापथिक श्री भवभूति पर बौद्ध दार्शनिक का महाकरुणा-परक प्रभाव तो था ही, नाटक “महावीरचरितम्” में जो द्विअर्थक भ्रांति है वह जैन-सनमानांतरता को भी परिलक्षित करती है। और दक्षिणापथ मद्बौद्ध एवं जैन तथा शैव मतों का शताब्दियों तक प्रचंड आमना-सामना होता रहा था जो सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों था।

इसके अलावा भी अजंता की गुफाएँ पूर्णरूपेण बौद्ध हैं और उनमें भित्तिचित्रों की प्रमुखता है। वे इसी सदी के आसपास से शुरू होकर वाकाटकों-गुप्तों (ई.प. 7वीं सदी) के युग से गढ़ी जाती हुई ई.प. 7-8वीं सदी में परिपूर्ण हुई। उनमें शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ से लेकर तथागत तक तथा बुद्ध से लेकर बोधिसत्वों अवलोकितेश्वरों तक के अंतर्भुक्त जातकवृत्त हैं। नाटककार भवभूति ने भी अपने दोनों नाटकों में श्रीराम के अयोध्या से लेकर लंका में सीता की

अग्निपरीक्षा तक फिर वहाँ से पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने पर राजा राम के घटनाचक्र लिए हैं। इसलिए यह अनुमिति गलत नहीं है कि परिपूर्ण हुई अजंता की दिगंतव्यापी कीर्तिगाथा का समय तथा भवभूति का समय, दोनों परस्पराच्छादित हैं।

इसी लड़ी में इल्युरा शिल्प-प्रधान है और उसकी बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन-गुफाओं के समूह सौहार्द्रपूर्ण सह अस्तित्व का प्रमाण हैं। वहाँ कैलाश मंदिर में शिवगाथा के अलावा ब्राह्मणधर्म की जो सोलह गुफाएँ खोदी गई वे भी ई.प. 7वीं सदी की अर्थात् चालुक्यों के समय (ई.प. 520-752-783) की हैं। देवगिरि की शैलमालाओं के पगतल इल्युरा-श्रेणी, सत्पुड़ा तथा सह्याद्रि के पगतल में अजंता घाटी और भवभूति के दोनों नाटकादि एक ही कालचक्र की साधना के एकीकृत प्रभामंडल बनाते हैं। अतएव यह निष्कर्ष सिद्ध भी होता है कि भवभूति की नाट्य चित्रवीथी अजंता की गुफाओं की चित्रदीर्घाओं से जरूरतन अनुप्रेरित हुई है क्योंकि संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में ऐसा कोई दूजा सहस्रद्वीप नहीं है।

पहला कारण रामकथा में संघर्ष और अथाह करुणा भी है। दूसरे यह दक्षिण और उत्तर भारत के बीच दोनों ओर से संयोजक है। तीसरे अगमड़े भवभूति को उबारते वैष्णव सौंदर्यबोध शास्त्र की मौलिक उद्भावना की चुनौती का पुनश्च सामना करना पड़ा जिससे तब तक कतई नहीं जूझा जा सका था। चौथी वजह तब की ऐतिहासिक विनिर्मिति है जो बेहद उलझी हुई है। वाकाटकों (ई.प. 250-550) एवं गुप्तों को विंध्य देहरी पर समकालीन साझेदारी रही थी। वत्सगुल्मी शाखा के वाकाटक हरिसेन के समय (ई.प. 465-490) में अजंता की सभी सुकीर्त गुफाएँ खोदी तथा चित्रांकित की गई थीं। वाकाटक-सत्ता की समाप्ति के पश्चात् ई.प. 510 के लगभग विष्णुकुंडिन प्रभावशाली हो गए। वे मानो वाकाटकों के उत्तराधिकारी जैसे थे। समानांतरता में (ई.प. 520 के लगभग) महिष्मती में कलचुरियों की नई शक्ति का अभ्युदय हुआ। वे पाशुपत थे तथा शिव की लकुलीश-रूप में पूजा करते थे। वे

पल्लवों की तरह उदार था और विष्णु के भी आराधक थे। इसके बाद बादामी के पश्चिमी चालुक्यों का छठी शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक "दकन" पर आधिपत्य रहा। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा पुलकेशिन द्वितीय था जिसने हर्षवर्धन की सत्ता से टक्कर ली थी और वेंगी के पल्लवों को जीता था।... इन सहके बाद (ई.प. 750 के लगभग) राष्ट्रकूट प्रभावशाली हो गए। इस तरह परमभागवतों के बाद वैष्णवधर्म साधना विकसित और संस्थापित हो चली थी। भवभूति का परिवेश यही था। उनके बाद (ई.प. दसवीं शताब्दी के आसपास) आचार्यों (विशेषतः रामानुज) ने वैष्णवधर्म को राष्ट्र समावेशी प्रकल्प दे दिया। अस्तु ?

इसका मतलब यह हुआ कि कवि द्वारा नाट्य (थियेटर) तथा नाटक (ड्रामा) की संरचना का सामंजस्य किया गया। रंगमंच के "सेटों" पर तो श्रीराम के वासगृह की दीवारों और उन पर ताड़कावध से लेकर सीतादेवी की अग्निशुद्धि तक की अन्य पात्रों समेत चित्रकथा (पूर्वकथा) चित्रित है। और रंगशीर्ष में परवर्ती अंकों में (नट रूप) में वे ही चित्रलिखित पात्र होकर उत्तरकथा में मौजूद हैं। एक में ही चित्र-पात्र-नट के तिहरेपन का ऐसा अंतर्विलयन करने के लिए संदर्भित बीती हुई घटनाओं तथा मार्मिक भावदशाओं को संवादों एवं संक्तों द्वारा सामने उपस्थित प्रेक्षकों के लिए (सूच्य एवं आहार्य द्वारा) प्राण संचारित (एनिमेटेड) फिल्म जैसा बनाया गया है। इस उपक्रम में नटपात्र ही साक्षात् पात्र होकर दर्शकों के अनुकार्य भी निभाने लगते हैं। अतः दोहरा दिग्दर्शन है। एक ओर रंगभूमि पर (मत्तवारणी समेत) रामसीतादि अपने ही चरितपटल के पूर्व खंड को देख रहे हैं तथा दूसरी ओर सामने उपस्थित सामाजिक समूह कई रामकथा पटों की प्रत्याह्वान पर अनुमिति के और नटादि का स्वयं रामादि में अन्तरण के विचित्र साधारणीकरण की प्रेक्षा कर रहा है। इस स्थिति में स्वपराण्य संबंध का निरसन भी नहीं हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि नाटक के इस अंकपर्ण में कहीं भी चित्र गोचर नहीं

है, बस उनका गत्यात्मक बिंब-विधान है। साथ-साथ टिप्पणी-प्रतिक्रियाओं द्वारा एक विपुल वैभवशाली अजस्र-समृद्ध स्मृत रूप विधान भी है।

इस तरह परोक्ष चित्रकार आर्य अर्जुन के माध्यम से भवभूति ने रामचरित की वैष्णव की चित्रवीथी का बढ़िया "ब्लूप्रिंट" तैयार किया है। बस, इसी अनुमान से हम अजंता की गुफाओं (सं. , 10, 19, 26, 29) की चित्रदीर्घाओं से संभावित अनुप्रेरणा के अनुबंग को ले रहे हैं। सनद रहे कि अजंता की चित्रकला तथा "उत्तररामचरितम्" के प्रथमांक की चित्रकाव्यकला के बीच में परस्पर "सादृश्य" अथवा "प्रमाण" अथवा "योजना" नहीं है। लेकिन साम्यरूपकता (एनालॉजी) का संदर्भ तकरीबन परिलक्षित किया जा सकता है। इस गाँठ को हम आगे चलकर खोलेंगे। नेपथ्यग्रह एवं रंगपीठ के चित्रकार आर्य अर्जुन द्वारा रामचरितपटल का चित्रांकन, तथा (बाद में) समानांतर लवकुस द्वारा रामचरित के गाथा गायन में इसकी कुंजी मिल सकती है।

इसका मतलब है कि संरचना (स्ट्रक्चर) तथा सौंदर्यबोध (ऐस्थेटिक्स) के संयुक्त आयामों पर यह खुलासा हो सकता है। हम इशारतन बता दें कि सौंदर्यबोध शास्त्र के परिवृत्त में चित्रशिल्प के "षडंगों" तथा श्रीशंशुक-सम्पत काव्यनाटक के "चित्रतुरग-न्याय" को अवकूटित (डि-कोड) करके ही अभिलिखित की प्राप्ति की संभावना है। प्रथमांक के अंशपर्ण में हमें वृत्तांत एवं चित्रण एवं वर्णन को मिश्रित संरचनाओं में अनेक पताका-प्रकरी, संकेत, कूट, सूचक, चिह्न-चक्रचिह्न, बिंब, स्मृति, कथादर्शन, मिथक, तथा पारिभाषिक आदि की लड़ीवार प्रस्तुतियाँ मौजूद हैं। अतएव आधुनिक तकनीकवावली में यहाँ "एनिमेशन" एवं "फीचर फिल्म" की गतिकी (डायनेमिक्स) का मेल-सा हो गया है। पहले कोई चित्र "स्थिर" (स्टील) है। फिर वह "गाइड" लक्ष्मण द्वारा किरणनाभि (फोकस) में आता है। फिर वह गतिपरक ऊर्जा में भावों-घटनाओं की स्मृति तथा अभिव्यक्ति की-द्विपर्ण विरुद्धता (बाइनरी अपोजीशन) में घटित/अनुकार्य हो उठता

है। यहाँ सूच्य दृश्य तथा प्रत्यक्ष की चमत्कार-धर्मी अन्योन्याश्रित कान्त मैत्री भी है। वही सूच्य चित्रों की समकालिकता को बहुकालिकता में बदल देती है।

5. यदि "महावीरचरित" में पुष्पक विमान द्वारा लंका से अयोध्या में वापसी का काव्यात्मक वृत्तांत है तो "उत्तररामचरितम्" के प्रथम अंक में पूर्वाधिका अर्थात् मिथिला अयोध्या से आगे वनगमन और लंका विजय तक का चित्रकथामय वृत्तांत है। पहले नाटक में अग्निपरीक्षा के बाद से शुरुआत होती है और दूसरे में सीतादेवी की अग्निशुद्धि तक की चित्रकथा है। बाद में गर्भवती सीता को पुनः लोकापवाद की अग्निपरीक्षा देने को वनवास भोगना पड़ता है। लगता है कि "अग्निपरीक्षा" के अभिप्राय का आतंककारी सन्नाटा भवभूति तथा श्रीराम, दोनों को प्रशांत रहने नहीं दे रहा है। अतः दोनों का आत्मसंघर्ष जारी है। इसमें प्रचंड आत्मकरुणा का प्रलय मच रहा है। राम को गुप्तचर दुर्मुख लोकापवाद की अनहोनी से खबरदार कर देता है। किंतु इससे गर्भवती सीता तथा लक्ष्मण अनजाने हैं। अतः चित्रवीथी-दर्शन के बाद जब सीता में निश्छलता से वनभ्रमण की इच्छा जागती है तो राजा राम प्रेमी पति राम पर विजयी होते हैं। इसी ओट से सीता देवी को पुनः भ्रमण के बहाने वनवास दे देते हैं। अतः चित्रवीथी पत्नी देवी सीता के वनवास की समाप्ति अधूरी रह जाती है। अधूरी चित्रवीथी को पूर्ण करने का कार्य नाटककार भवभूति "उत्तररामचरितम्" के अगले अंकों द्वारा करते हैं। तदापि केंद्रीय बिंदु है, अग्नि परीक्षा!

अथातो-चित्रवीथी

(क) आरंभ में मिथिला में राम विवाह के कुछ रस्मों के चित्र हैं— पूजन, कंगन धारण, मूर्ति महोत्सव के शांत संस्कार, चारों बंधुओं के मंगल।

(ख) अयोध्या में दिवंगत पिता की स्मृति, माताएँ, सीता-सौंदर्य, भागीरथी की सिलसिलेवार मिथकें।

(ग) फाँदे गए वृत्तांत - मंथरा कैकयी का मात्र निदर्शन है। इसी तरह विंध्याटवी में विराध-वृत्तांत भी शूर्पणखा-चित्रवली भी।

(घ) चित्रकूट और वन में : भरद्वाज आश्रम, श्याम नामक वटवृक्ष से जुड़ी मधुर यादें, अनेक रोमांटिक यादों का चेतना-प्रवाह, गोदावरी की गुफाओं में जनस्थानादि, प्रस्रवण नामक पर्वत। तपोवन। वानप्रस्थों के आवास (अजंता) की यादें ?)

(ङ) पंचवटी: बेहद मधुर रोमांटिक यादें; यहीं तक राम का चित्रदर्शन; यहीं पर सीता का हरण।

अथाह दुख-वेदना-व्यथा-करुणा राम का शोक और विरह और रुदन।

(च) जटायु-चित्रकथा: मिथकों की कई पृष्ठभूमिकाओं सहित

(छ) कुंजवान पर्वत: मतंग ऋषि का आश्रम; पंपा-सरोवर की रमणीयता; मल्लिकाक्ष नामक हंसों के मधुर गान; रामाश्रु की आर्द्रता।

(ज) हनुमान-प्रसंगकथा: पूजनीय देवता की कुछ मिथकों के संदर्भ

(झ) माल्यवान् पर्वत चित्रावली : मेघदूतों के साहचर्य; अब लौटे हुए सीता-विरह से विचलित राम।

(ञ) लंकावासी राक्षसों के अनगिनत अति उत्कृष्ट कार्यों से आश्चर्योत्पादक उत्तरोत्तर रामचरित का चित्रांकन; गर्भवती देवी सीता की भगवती गंगा में स्नान करने की इच्छा (और इस व्याज से राम द्वारा सीता को पुनः वनवास)। अर्थात् अग्निशुद्धि वाले कथन के समापन से प्रारंभ हुआ और सीता द्वारा चित्रदर्शन से उत्पन्न पवित्र गंगा में स्नान की दोहदमय लालसा से बढ़कर रंगमंच में आगे शुरु होता है कथादेश।

इस चित्रवीथी में प्रकृति आश्रय है, आलंबन है तथा उद्दीपन है। यहाँ प्रकृति और नारी की कालिदासी कांतमैत्री भी है। कुछ वृक्ष विशेष हैं: श्याम नामक वटवृक्ष (चित्रकूट चित्र), इंगुदी वृक्ष (श्रृंगवेरपुर-चित्र), कुसुमित कदंब वृक्षमाला (कुंजवान पर्वत), सुरभित पुष्पों वाला अर्जुन (माल्यवान् पर्वत)

तीन-चार पर्वत विशेष हैं: विंध्याचल वन, प्रस्रवण पर्वत, कुंजवान् पर्वत, माल्यवान् पर्वत।

दो-तीन की रमणीय एवं दिव्य शोभा है : पंचवटी,

अजंता विहारों की तरह आश्रय, पंपा सरोवर के भू-चित्र।

सो, भवभूति से जिस चित्रवीथी का प्रकल्प आर्य अर्जुन के माध्यम से रचा है उसमें वनदेवियाँ हैं, नदी देवियाँ हैं, जटायु तथा हनुमान जैसे दिव्य पात्र हैं, उनमें स्वयं राम, सीता, लक्ष्मण क्रियमाण हैं तथा इन सबको आच्छादित करती त्रिपुरसुंदरी प्रकृति है जो कभी लास्य तो कभी तांडव में निमग्न है। यहाँ प्रकृति का "मानवीकरण" एवं "दैवीकरण" एक साथ हुआ है, चित्रवीथी के नेपथ्य से। राजाराम का त्यागयोग और सीता की अंतर्वेदना बहुजनहिताय-बहुजन सुखाय घटती है।

लक्ष्मण आद्योपांत संदर्शक (गाईड) के अनुकार्य को निभाते हैं। वे महाराज श्रीराम के वासगृह की भित्तियों पर (चित्रकार आर्य अर्जुन द्वारा अंकित) रामचरित के अभिलेख को दिखाने राम तथा सीता को लिवा लाते हैं, किंवा इन्हें देखने का अनुरोध करते हैं।

अब मधुमती भूमिका तैयार होती है जब राम देखने से पहले पूछते हैं कि (क्या) दुःखित मन वाली सीता को (इस समय मनोविनोद की अपेक्षा है)? अतः पहले यह बताओ कि (इसमें) कितनी अवधि के चित्र रचे गए हैं? लक्ष्मण बताते हैं कि "वे भौजाई की अग्निशुद्धि तक के हैं।"

अब राम की दूसरी शंका है कि "पवित्र सीता को अग्निशुद्धि की क्या अपेक्षा है? जबकि वह खुद यज्ञक्षेत्र से जन्मी हैं?"

अतः चित्रदर्शन के पहले राम सीता को आश्वस्त करते हैं कि "हे सीते! प्रसन्न हो जाओ और (अग्निशुद्धि विषयक) प्रवाद तो आजीवन रहेगा।" वे तर्क देते हैं कि "यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न (सीता) को भी तीर्थजल की क्या अपेक्षा है?" अब सीता को रामचरित्र की निर्मलता की ढाल मिल गई है। इसलिए उसे ऐसे प्रवाद-अपवाद की परवाह नहीं रही। इसलिए ऐसी निस्संग मनोदशा में ही चित्रकला की आशंसा का श्रीगणेश होता है। यह तथ्य तारांकित किया जाना

चाहिए जब निस्संग तथा निर्वैक्तिक दशा का क्षणबिंदु झटिति-प्रत्यय द्वारा सहसा कौंध उठता है तथी यथार्थ समय ही कालातीत महाकाल हो जाता है। तभी सौंदर्यबोध दर्शन की भूमा उन्मीलित होती है। तब दुःख और अपवाद उदात्तीकृत होकर आनंद में पर्यवसित हो जाते हैं। यह भवभूति की जीवन दृष्टि भी है।

दूसरे, नाटक में चित्रवीथी की परिवेश भूमि स्वयंमेव अलौकिक है। यद्यपि भवभूति ने राम को ब्रह्म नहीं दिखाया और न ही सीता और लक्ष्मण को अंशावतार बताया है, तथापि ऋषि, ऋषि-पत्नियाँ, सती नारियाँ, तथा महावीर हनुमान की सन्निधि इसे दिव्य सौंदर्यबोध की उपच्छाया से झिलमिला देती है। रंगशाला के प्रेक्षक सामाजिकों के समूहों के पक्ष से यह विस्मय स्थायी की अद्भुत भरत भूमिका जैसी है।

तीसरे चित्र के कथानक चक्र में जो खंड नहीं लिये गए हैं, या जिनको फाँद लिया गया है, या जिनका अमहत्त्वपूर्ण मात्र रेखांकन है, वे सब भी कला के सामाज-सौंदर्यबोधात्मक अनुचिंतन (रिफ्लेक्शन) की दशा दिशा निर्णीत कर रहे हैं। पहला उद्घाटन तो यह है कि राक्षस-पक्ष लगभग बहिष्कृत हुआ है। दूसरा कि शामिल हुए चित्रित पाठ मानवीय करुणा तथा प्रबल परोपकार के द्योतक हैं। तीसरी बात यह है कि लाड़ली प्रकृति पात्रों का स्वाभाविकीकरण तथा पात्रादि प्रकृति का मानविकीकरण कर रहे हैं। यह सब भवभूति की चित्राशंसा की प्रतिभा एवं मौलिकता के सिद्ध प्रमाण हैं।

चौथी खूबी यह है कि चित्रों में केंद्राभिसार करके पात्र चित्रकला के तथा नाट्य कला के षडंगों तथा कार्यावस्थाओं को उद्घाटित करने के साथ-साथ केंद्रापसरण करके अपने विभावानुभवसंचारी के संयोग से अपनी रसदशाओं का भी उन्मीलन करते हैं। दोनों ही सह प्रक्रियाएँ संकेतविज्ञानिक (सेमिओलॉजिकल) तथा संवादकला (डायलॉजिज्म) द्वारा संपन्न होती हैं। यथा प्रसंग हम चित्रशिल्प के षडंगों के माध्यम से कुछ उदाहरण देंगे (क्योंकि आधार चित्रवीथी है)।

अंतिम पाँचवी विलक्षणता रामायण के वैश्वव अभिप्राय से हैं : छद्मपशु के ढाँचे में छिपकर नायिका का अपहरण। पंचवटी के बीहड़ सघनकान्तार में मारीच स्वर्ण-हरिण का छद्मरूप धर करके सीता-हरण करने का कारक (एजेंट) अथवा उत्प्रेरक (कैटेलाइजर) बनता है। इसी भाँति प्रचीन ग्रीक युद्ध-कौशल में काठ के बने विशालकाय ट्रोजन अश्व में आक्रमणकारी सेना छुपकर ट्रैलियम शहर को भस्मीभूत करके अनिघसुंदरी नायिका हैलेन का अहरण कर लाती है।

अब हम चित्रशिल्प के षडंग भवभूति की चित्रवीथी की शोभा-रमणीयता का अपहरण करेंगे।

चित्रशिल्प के षडंग : 1) रूपभेद के अंगत विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार, प्राकृतिक दृश्य, स्थापत्य, चतुर्दिक विश्व की सभी वस्तुओं के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के नतीजों में रूप-ग्रहण की शक्ति शामिल है।

जब लक्ष्मण प्रचण्ड परशुराम का चित्र दिखाते हैं तो सीता काँप जाती है। जब वे आगे बताने को तत्पर होते हैं तो राम दूसरे प्राकृतिक स्थल दिखाने का आदेश देते हैं। सीता, चित्र द्वारा अभिव्यंजित, राम की विनम्रता के प्रभाव की शोभा बखानती हैं।

लक्ष्मण प्रस्रवण नामक पर्वत के चित्र का निर्वचन करते हैं कि यह घने पेड़ों से व्याप्त है। यहाँ स्निग्ध और नील वर्ण वाले निकटवर्ती वन से गोदावरी आलिंगन है। इसकी गुफाओं से युक्त निरंतर बरसने मेघों से सारा भू-दृश्य नीलिमा से संपन्न हो गया है (वर्णिका भंग भी)।

पर्वत की रमणीयता बखानती है कि यहाँ कुसुमित कदंब के वृक्षों में मोर तांडव नृत्य कर रहे हैं और पेड़ों के नीचे राम वियोग में रो रहे हैं। वह नाम पूछती है तो लक्ष्मण बताते हैं कि यह माल्यवान पर्वत है जहाँ पर नीला, चिकना और नया मेघ (यस्मिन्नील : स्निग्धः अयति शिखरं नूतन स्योतवाहः) शिखर पर आश्रय लेता है।

2. प्रमाण के वृत्त में अनुपात, मनुष्य के अंगों के आपसी संबंध भी शामिल हैं।

मिथिला में अंकित राम की देह खिले हुए कमल

की तरह श्याम वर्ण, स्निग्ध (चिकनी), मसृण (कोमल) सुशोभन, मांसल (दीप्तिपूर्ण) तथा पुष्ट मांसल है। सीता उनके मुखमंडल को मुग्धकारी, साम्य तथा सुंदर बताती हैं।

अयोध्या आने पर नववधु सीता प्रतनु और विरल है। वह अपने कपोलों तक फैले हुए मनोहर कुंतलों से तथा कुसुमों की तरह दाँतों से मुग्ध अवलोकन वाले मुख को वह सिशु वयवाली, अत्यंत ललित, चंद्रआभा के सदृश अकृत्रिम विलासों से संपन्न, प्रीतिजनक अंगों से पति श्री राम तथा अपनी सासुओं का भी कुतूहल पैदा करती हैं।

जब लक्ष्मण पूजनीय हनुमान की छवि दिखाते हैं तो राम उस महाबाहु को माता अंजना का भी आनंदवर्धक बताते हैं।

सीता पक्षीराज जटायु को तात कहती है जो चरित्र एवं विक्रम का उदाहरण हैं (लक्ष्मण)। उन्हें सत्पात्र कहते हैं।

3. भाव-लावण्य में मनकेंद्र में आ जाता है जहाँ विभिन्न मनःस्थितियों के परिणाम से विभिन्न भाव-अभिव्यंजित होते हैं इसके अंतर्गत भावाभिव्यक्ति को सूक्ष्म गहराई तथा चरमोत्कर्ष तक पहुँचाना लावण्य होता है।

चित्रकूट प्रवास में जब सीता राम से श्याम नामक वटवृक्ष से जुड़ी एक रोमांटिक याद कुरेदती है तब राम भी उस जगह को नहीं भूले हैं। वे स्पृहापूर्वक कहते हैं कि तुम (यहाँ पर) मार्ग में चलने के खेद (परिश्रम) से आलस्ययुक्त, ललित, मुग्ध आलिंगनों से परिमर्दित मृदुल कमलपृष्ठों के सदृश्य अपने दुर्बल अंगों को मेरे वक्षस्थल पर धरकर निद्रा-निमग्न हो गई थीं।

राम सीता को सुस्वादवाली सरस गोदावरी के कूल-किनारों की याद दिलाते हुए कहते हैं कि यहीं अनुराग की आसक्ति से कपोल सटाकर, कुछ धीरे-धीरे क्रम के बिना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ़ आलिंगन नें लगाते हुए, हम दोनों की (बीते हुए प्रहरों का भी पता न लगकर रात ही बीत गई थी।

सीता हरण पर लक्ष्मण आर्त होकर कहते हैं, “पापी राक्षसों ने स्वर्ण-हरिण की छद्मविधि से ऐसा (हरण) किया जो कि प्रतिकार लेने पर भी अभी तक दुःख देता है।” इस पर च दुःखी सीता की टिप्पणी; “यथा तथा जैसा भी कुछ हो (वह यदि) दुर्जन है तो दुःख पैदा करता है।”

4. योजना में विषय वस्तु को वातावरण से बिखरी घटनाओं व प्रसंगों को कथानक में अनुस्यूत कर दिया जाता है; जैसे यदि नदी तो उसका परिवेश; यदि पर्वत तो उसका पर्यावरण।

सीता के वियोग में रोते हुए राम के साहचर्य पत्थर भी रुदन करते हैं तथा वज्र का हृदय भी विदीर्ण (फट) हो जाता है।... लक्ष्मण राम के आँसुओं का उल्लेख करते हैं कि “आपका आँसू प्रवाहों से फैलता हुआ, चूर्ण-चूर्ण बिंदुओं से युक्त टूटी हुई मोतियों की माला की तरह जमीन पर गिरता है। बहुत काल तक हृदय को चूर-चूर कर देने वाला अतिशयित यह आँसू रोके जाने पर भी अधर तथा नासापुट का स्फुरण होने से दूसरे में अनुमित होता है।”

मिथिला में विवाहमंडप के अगले चित्र के विषय में सीता कहती हैं कि अब के शांत-संस्कार किये हुए विवाह-दीक्षित आप चारों भाई हैं।... तो उसी स्थान में मैं, तथा उस समय में “मैं” हूँ : ऐसा लग रहा है।... राम को सीता के कंगन पहने हाथ दिखाई देते हैं।... लक्ष्मण पहचनवाते हैं कि (चित्र में) ये राम हैं। यह आर्या माण्डवी (भरतपत्नी) हैं और ये वधु श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न पत्नी) हैं।... सीता ठिठोली में पूछ बैठती हैं : “यह अपरा या अन्या कौन है ?” पत्नी उर्मिला को इंगित होने पर लक्ष्मण को लज्जा तथा मंद हँसी आ जाती है। (ये प्रसंग ज्यादातर समूह-चित्रणवाले हैं)

5. सादृश्य में यथावत् “भ्रांतियों की चित्रक्रीड़ा” है। इससे हम “साहचर्य” और “रूपक” भी शामिल कर सकते हैं। चित्र और मंच के रामादि की भ्रांतियों की ललित लीला इस अंश में सर्वांगीण परिव्याप्त हैं। राम सीता के चित्रांकन हैं जिन्हें (नट) राम सीता देखकर स्मृत रूपविधान प्रदर्शित करते हैं। मानों ये

स्थिर चित्र सहसा टिप्पणियों एवं संवादों से गतिशील प्राण संचालित सरूपों (एनिमेशन) में कायांतरित (मेटामॉर्फोज) हो जाते हैं। यहाँ अभिलषित न्यायदर्शन का “चित्रतुरग रूपक” भी सक्रिय हो उठता है। यह अनुकृति नहीं, बल्कि समानांतर चलने वाले एक नया सृजन है। यह सत्य का एक रूप भी है।

अ- “अंग-प्रत्यंग सब कुछ वैसे के वैसे”

आ- उसमें लावण्य भी हो; एवं

इ- यह भाव-सादृश्य भी है निर्विघ्न ध्यान द्वारा सिद्ध होता है।

सारा अभिज्ञान ही सादृश्य की घेरेबंदी में आ सकता है।

श्रृंगवेरपुर में अंगुदी का पेड़ देखते ही राम को भाव-सादृश्य का प्रतिभास होता है कि वहाँ निषादराज (गुह) से भेंट हुई थी।

संन्यासी वेश में वनगमन के चित्रफलक पर लक्ष्मण टिप्पणी करते हैं कि पुत्र को राजलक्ष्मी देकर इक्ष्वाकुवंश के बूढ़े राजाओं ने जो वनवास का व्रत लिया था, उस पवित्रता को आर्य श्रीराम ने बाल्यावस्था में ही ले लिया।

जब सीता प्रसन्न पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के चित्र को देखती हैं तो राम उन्हें रघुकुल की देवी कहकर नमस्कार करते हैं।... वे अम्बे गंगा को वधु सीता के- अरुंधती की भाँति-कल्याण की चिंता करने वाली होने की कामना करते हैं।

राम सीता को याद दिलाते हैं; “हे सुंदर अंगों वाली! गोदावरी के दो किनारों में हम दोनों एक-एक बाहु को (तरों की तरह) गाढ़ आलिंगन में बाँधते थे।”

दुखानल मन में परिपक्व होता हुआ हृदय के मर्मस्थल के व्रण (फोड़े) की तरह दुःख होता है।

6. वर्णिका-भंग में रंगों तथा लोचदार कलमकारी की अन्य सामग्रियों को ठीक से प्रयोग करने की तरकीबें हैं। ये तो संपूर्ण चित्रवीथी की विधात्री हैं।

मतंग ऋषि के आश्रम तथा श्रमणा तामक सिद्ध शबर तपस्विनी के तपोवन से युक्त कुंजवान पर्वत में पंपा सरोवर भी है जो कमलों से भरा हुआ तालाब है;

जहाँ आर्यपुत्र (राम) अमर्ष तथा धीरत्व से विच्छिन्न-होकर प्रभुक्त कंठ से फफक-फफक कर रोये थे। यह परम रमणीय स्थल भी है मद से मधुर शब्द करने वाले मल्लिकाक्ष नामक हंस-विशेषों के पंखों से शोभित एवं कंपित बड़े-बड़े मेरुदंडों (मृणालों) वाले कमलों से युक्त पंपा-सरोवर के विभागों का विरही राम ने आँसुओं के निकलने व गिरने के बीच में (इसका) धुंधुकारी संदर्शन किया है।

इस नानाविध चित्रदर्शन से सीता में दोहदाय लालसा उत्पन्न होती है।

राम को सीता का वही विरह फिर वैसे ही लौट आया सा लग रहा है। ध्यान हटाने के लिए लक्ष्मण अनुरोध करते हैं कि आर्या (सीता) थक गई हैं। अतः विश्राम करें। राम राजधर्म के पालन हेतु पुनः वियोगी होने की प्रक्रिया में सीता को वन में भेजने को सहमत हो जाते हैं।

हम यह पाते हैं कि अर्धकथानक में चित्रप्रखंडों के प्रासंगिक प्रदर्शन का भी लक्ष्य है। उनके बीच में यथास्थान त्रासद विभ्रांतियाँ (ट्रेजिक रिलीफ) भी हैं। उनमें "अकस्मात् तत्त्व" प्रसंगों को मोड़ देते हैं और चित्रवीथी एक पगडंडीवाहिक कथागाथा या वृत्तांत भी बन जाती है। इस चित्रवीथी के संदर्शक या "गाइड" लक्ष्मण हैं। चित्र के पाठ (टैक्स्ट) चालू हैं और उण-पठ उभर-उभर कर आ रहे हैं जिससे विभिन्न पात्रों की मनोदशाएँ भाव एवं लावण्य से मंडित हो उठती हैं। इससे समानुभूति (इम्पैथी) तथा सहानुभूति (सिम्पैथी) के पबीच आवेशगुच्छों का बखूबी समतोलन (साइना एस्थीसिस) हुआ है।

6. अंततोगत्वा चित्रसूत्र में भरत के रस सूत्र की व्याख्या के सामरस्य की बारी है। अतः हम श्रीशंकुक (ई. प. आठवीं सदी की सवाई) के चित्रतुरग न्याय को आधार बनाते हैं क्योंकि प्रसंग भी केवल चित्रवीथी का है। दूसरी वजह यह भी है कि श्रीशंकुकल और राजानक (ई.प. 10-11वीं शताब्दी) की तरह भवभूति भी नितांत मौलिक हैं। संधान-बंधान-उठान में तो वे कहीं कहीं कालिदास से भी आगे निकल जाते हैं।

उन्होंने करुण रस और त्रासद बोध की ऐकाकी, ऐकांतिक, एकनिष्ठ स्थापना की है, अभिनव गुप्त की तरह! हमने श्रीशंकुक तथा भवभूति को जो अश्विनी बनाया है उसकी एक वजह यह भी है कि कल्हण की "राजतरंगिनी" में भवभूति का उल्लेख हुआ है। जब काश्मीर सम्राट ललितादित्य ने कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मन को पराजित किया था, तब शायद श्रीकंठ भवभूति उसी क्षेत्र के अंतेवासी थे। तो, श्रीकंठ और श्रीशंकुक साथ-साथ!

नाट्यचक्र में सादृश्य (सिमिलिच्यूड) एवं साम्यरूपकता (एनालॉजी) की पहली से सौंदर्यबोध शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र जूझते रहे हैं।

हाँ, तो फिर, बड़ी मुश्किल पेश आ रही है!

"उत्तरामचरितम्" के प्रथमांक के चित्रवीथी के संदर्भ में प्रथमदृष्ट्या चित्रतुरग-न्याय की दोहरी व्याप्ति है। पहले चित्र (के राम सीतादि) और तुरग (रंगमंच के रामसीतादि)।

इसके बाद रंगमंच रूपी चित्र (रामलक्ष्मणादि नट) तथा तुरंग (वे नट ही वास्तविक रामलक्ष्मणादि)। इस तरह दोनों स्तर की परस्पर व्याप्ति (आवर लाफिंग) हो जाती है। जहाँ साधारणीकरण भी धुँधला हो जाता है तथा स्वपरान्य संबंध भी नाकामयाब हो जाते हैं।

अच्छा! दार्शनिक निर्वचन किया जाए चित्र (नाट्य) तुरग (नट) न्याय (अनुमिति/प्रतीति) अर्थात् चित्रतुरग न्याय! अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने श्रीशंकुक के उक्त न्याय तथा अनुकरण का विशेष विरोध किया। उन्होंने कहा कि उक्त न्याय में चित्र में अश्व का प्रतिभास होता है, अभिव्यक्ति नहीं।

प्रतिभास सामान्य प्रतीति मात्र है जबकि रस विलक्षण प्रतीति है। इसी तरह नाट्य अनुकार्य का अनुकरण नहीं, अनुव्यवसाय है। अनुव्यवसाय का अर्थ है प्रत्यक्ष का मान और वेदांत की दृष्टि से सुख दुःखात्मक भाव अथवा बोध का निस्संग प्रत्यक्ष। इस तरह यह "ज्ञान का ज्ञान" (अभिज्ञान) हुआ।

जब नट नये नामरूप तथा आंगिक-आहार्य रूप में आता है तब उसकी नट-बुद्धि जाती रहती है।

अर्थात् वह आरोपित) अनुकार्य के रूप में प्रस्तुत होता है। भट्टतौत अनुमिति के बजाय “प्रत्याभास” का प्रत्यय लागू करते हैं।

प्रेम स्वरूप गुप्त के अध्ययन के अनुसार श्री शंकुक की व्याख्या पर बौद्ध न्यायिक धर्मकीर्ति के “प्रमाणवार्तिक” का विशेष प्रभाव है। श्रीशंकुक का तर्क है कि मणि एवं प्रदीप की प्रभा दूर से समान लगती है। इसलिए मणि बुद्धि से प्रदीप की ओर जाने वाले व्यक्ति को उपर्युक्त मिथ्या ज्ञान भी तृप्ति को देता ही हैं, भले वह क्षणिक क्यों न हो। इसलिए चित्रदर्शक वास्तविक अश्व तथा रंग और रेखा कर लेता है। इसलिए (धर्मकीर्ति के अनुसार भी) चित्र-विज्ञान गत् रंग-रेखा-पदार्थ की अनुकृति वास्तव में ज्ञानोपाधि है। अनुकार्य अपने अनुकृत स्वरूप में अनन्य हो जाता है। तब उन दोनों अर्थात् रंग-रेखा एवं अनुकार्य-अनुकृति का पृथक्तः दर्शन अशक्य हो जाता है। और अनुकार्य की प्रतीति तो सहृदय ही करता है। चित्र में (अश्व की) प्रतीति (सम्यक्, मिथ्या, संशय एवं सादृश्य के प्रकरणों की अपेक्षा) विलक्षण होती है। इसी भाँति से सहृदय को, नट द्वारा उपस्थित, रससूत्र के भाव से लेकर स्थायीभाव तक की रस रूप में अनुमिति होती है।

श्रीशंकुक नाट्य के प्रेक्षक को व्यवहारवादी पुरुष मानते हैं। इसलिए उनका सरोकार सहृदयानुभूति पर कम एवं रंगशाला पर अधिक टिकता है।

भवभूति के संदर्भित नाट्यांश की संरचना में राम तत्त्वचिंतक भी हैं जो वास्तविक एवं प्रतीति में भेद

करते हैं। वे व्यवहारी सहृदय भी है जो चित्र एवं स्वयं में अभेद प्रतीति भी करते हैं।

डनाटक-नाट्य में चार प्रकार की प्रतीतियाँ हो सकती हैं— एक, तात्त्विक (यह राम ही हैं/यही राम हैं।), दो, भ्रांति (लगता है कि नट ही राम है); तीन सादृश्य (राम और नट समान नामरूप पदार्थ वाले हैं); तथा चार संदिग्ध (नट कि राम ? राम कि नट ? राम हैं कि नहीं हैं— यह तय नहीं हुआ)।

कलाजगत की प्रतीतियाँ उसी समय के लिए (फार दी टाइम बीइंग) होती हैं जहाँ हमारी व्यावहारिक बुद्धि स्थगित हो जाती है। कला में ऐसी प्रतीति भी होती है।

इसलिए चित्रवीथी की कला उपर्युक्त चतुर्प्रतीतियों के अलावा “चित्रतुरंगन्याय” द्वारा भी होती है। हम अपने ज्ञान का ही ज्ञान अथवा अभिज्ञान करते हैं। अर्थात् अनुभूति की अनुभूति होती है। अर्थात् अपनी ही वासना का हम (तथा रामादि) चर्वण करते हैं, जैसे कि “उत्तररामचरितम्” में राम चित्र हैं, कृतकार्य नट हैं तथा उपस्थित वास्तविक पात्र हैं एवम् सहृदय सामाजिक भी हैं। अभीष्टांत।

अंततः हम अपनी ऊपरली बेहद मुश्किल पूर्वानुमानित (प्रि-सपोज़्ड) प्रस्तावना का तमाम शुद्ध उर्फ संपूर्ण समाप्ति अल्बर्ट आइंस्टान की एक सूक्ति से करने की इजाजत माँगते हैं— “जिसने कभी कोई गलती ही नहीं की, उसने किसी नवीन का प्रयास भी कभी नहीं किया।”

स्वीकार करनी होगी तुलसी की समसामयिकता भी!!

—रमेश कुंतल मेघ

(मुक्तांचल, अंक : 12, अप्रैल-जून 2017)

ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी में शुंगों-गुप्तों की आभिजात्य (स्वर्णकालीन) संस्कृति के अनुरागी शैव महाकवि कालिदास प्रकृति-नारी की कांत मैत्री के भी अनुरागी थे। उनके बाद बारह-तेरह शताब्दियों में स्मार्तों के वाणी-विनायक सरस्वती-गणेश, वैष्णव विष्णु राम के श्री नारायण, शैवों के भवानी शंकर रहे। कालिदास ने प्रकृति-नारी की भव्यता के संसर्ग से शब्द-अर्थ की भी साधना की।

इस लंबे अंतराल के बाद सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव भक्त-कवि तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। इस भाँति हम एक ही महादेशिक संस्कृति के अंतर्गत बहुकालिकता (डायाक्रोनी) में अनुप्रवेश करते हैं। इसी के साथ ये दो सांस्कृतिक आकाशदीप शताब्दियों को दीप्तमान करते रहते हैं।

(क) इतिहास की निश्चयता एककालिकता (सिन्क्रोनी) में अपेक्षतया सहज-सी होती है। अन्यथा हम वास्तविकताओं से यथार्थताओं में मुठभेड़ करते चलते हैं। कालिदास तथा तुलसीदास, ये हमारे यथार्थता ये युग्म भी थे, हैं एवं रहेंगे। यथार्थता के आयामों में गाहे-बगाहे उथल-पुथल से जूझना पड़ता है। शुद्रक ने अपने समय में ब्राह्मण चारुदत्त और वारांगना वसंतसेना का प्रेम समाविष्ट किया। इसी तरह निंदा शाय कालिदास ने प्राकृत मालविका-अग्निमित्रा के प्रसंग (कुमार-संभव का भी) या लोकापवाद झेलने के कारण विप्रथित होकर फिर देवी-देवताओं, अप्सराओं, यक्षों को ढाल बनाकर दिग्विजयी अलौकिक (रघु) वंशों के भव्यमार्ग स्वीकार कर लिये। जब सोलहवीं शताब्दी में तुलसी की बारी आई तो उन्होंने भी “रचि महेस जिन मानस राखा” को “संभु कीन्ह

यह चरित सुहावन” पर भक्ति खंडित कर दी। फलतः वक्ता-श्रोता-पद्धति में प्रश्नावलियाँ जुड़ीं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, काकभुशुंडि-गरुड़ भी आ गए। यहीं नहीं; वर्णन कर्ता भी ब्याज से सहस्रफणी शेष तथा शारदा, गणेश, विदा हो गए। इन दोनों के मध्य नर्मदा नदी के मोही, विंध्याचल तथा बहुपत्नियों के अभिकर्ता “पउमचरिउ” के रचयिता स्वयंभू अवश्य मध्यांतर संक्रांति गढ़ते हैं। अतः अनुहरण करते हुए तुलसी हिमालय तथा गंगा के महाकवि हो जाते हैं “मर्देकामिल” शाहंशाह अकबर के ज़माने में तुलसी के राम भी परब्रह्म तथा “मर्यादापुरुषोत्तम” हो जाते हैं; नियति के बजाय माया का हस्तक्षेप बढ़ जाता है। इसी के साथ ज़माने की चुनौतियों को शिरोधार्य करते हुए तुलसी नये हाशियों में एक ओर शबरी, केवट जैसे पिछड़ी जन जातियों को शान-आन देते हैं तो दूसरी ओर नाना गणचिह्नों (टोटेमों) एवं नैतिक सिस्टमों वाले आदिम कबीलों (रिक्ष, वानर, शूर्पनखा, भुशुंडि, मारीच) को सहकारी बना लेते हैं। इस प्रकार नब्बे वर्ष पार के “तुलसी बाबा” सही प्रश्न से ही सही उत्तर हासिल करके त्रिकालीन प्रतिनिधि हो जाते हैं।

(ख) विशेष रूप से तुलसी बाबा के “मानस” की संरचना (स्ट्रक्चर) विलक्षण है।

अब हम आगे आधुनिक-समकालीन वातायन से ही अवलोकन करें।

“मानस” में **मध्यकालीनीकरण** है दैवी चक्रों में; **पौराणिकीकरण** है परंपरा एवं परिवर्तन में (केवट, शबरी, टोरेमिक, कबीले); और **कृषकीकरण** है (सामाजार्थिक मध्यकाल तथा तत्समकाल का)। इस तिहरी प्रक्रिया से हम क्रमशः **मिथक** से इतिहास से

समाजशास्त्र के आयामों को गतिमान मानते हैं। कमाल यह है कि "भक्तिकवि" की इस धर्मकृति में धर्म-अध्यात्म-मिथक-आलेखकारी-नृतत्वशास्त्र - समाजशास्त्र-समाजविज्ञानादि गुत्थ गुत्थ हैं। नजरिया: "सोई पावन सोई सुभग सरीरा" तो हम यहाँ इहलौकिक दुनिया को आवरणमुक्त भी कर सकते हैं। कैसे? "सप्तप्रबंध सुभग सोपाना।" यह सब बालकांड - अयोध्याकांड - अरण्यकांड - किष्किंधा कांड - सुंदरकांड - लंकाकांड के साथ (और अंततः - उत्तरकांड के कलियुग - रामराज्य) में हुआ कैसे?

क्या केवल "नाना पुराण निगमागम सम्मत होने से? नहीं, नहीं, नहीं, कतई नहीं।"

"मानस" की आधारभूत संरचना संवादों तथा सांगरूपकों द्वारा हुई है। उसका प्रयोजन "मनोवांछित" है अर्थात् कलियुग में संपूर्ण पापों का विनाश करना तथा रामराज्य भी यूटोपिया के प्रारब्ध (डेस्टिनी) को अवश्यंभावी बनाना। प्रकारेण कवि लक्ष्य है- क्या है? क्या हो सकता है? क्या होना चाहिए? हाँ, यही भव्य महाकाव्य का आकृतिबंध (पैटर्न) है।

आकार-आकृति की चर्चा करें तो यह शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों का अतिक्रमण करके सूफियों की मसनवियों के दोहा-चौपाइयों का भी अनुगामी है। इसमें बालकांड वाला अप्रतिम सांगरूपक है, धर्मरथ का महारूपक है। इसमें चार सुंदर संवाद (भुशुंडि-गरुड़, शिव-पार्वती), याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, तुलसी-संत) हैं, सुभग सोपान वाले सप्त प्रबंध (कांड) छंद-सोरठा, सुंदर दोहे हैं। अभागे कौवे तथा बगुले भी हैं। सो, अज्ञान (?) के महिषासुर के लिए रामकथा "कराला काली" है।

प्रश्नावली का चरम तो सती-संदेह तथा परीक्षा है। जाने-अनजाने यह सर्वांगीण समेटता मध्यकालीनीकरण (मिथक), पौराणिकीकरण (इतिहास) ग्राम्यीकरण (समाजशास्त्र) का विश्वकोष

(एनसाइक्लोपीडिया) प्रतीत होने लगता है।

(ग) अब इसकी टैकनालॉजी (प्रौद्योगिकी) को भी समझें।

मिथक-इतिहास-समाजशास्त्र के पैरामीटर पर हम दैवीवृत्त, परंपरा-परिवर्तन तथा मध्यकाल-वर्तमान के हाशिये स्पष्ट कर पाये हैं। जब हम दो पाठ्य (टैक्स्ट) ध्रुवीयों को लेते हैं एक **पाठ्य-क्लासिकता** तथा दूसरी **पाठ्य समकालीनता** की है।

पहली के अंतर्गत सांस्कृतिक विरासत की कई दशा-दिशाएँ हैं, तथा ज्ञान और सत्य की नई मूल्यात्मक प्रतिपत्तियाँ हैं, यह क्लासिक से लोक को संश्लिष्ट करती है। दूसरी पाठ्यवृत्ति के अंतर्गत इस समाज के लिए युवा पीढ़ी के लिये प्रासंगिकता का आगाज करती-कराती है। यह सत्ता बनाम जनता (राम बनाम जन), सृजन बनाम निर्माण, अर्थात् मानस-संदर्भ में लीला बनाम सांगरूपक की अन्वीक्षा करती है। इस तरह हम तुलसी के समग्र कृतित्व में पाठ्य-पावनता तथा पाठ्य-समकालीनता के हाशिये पाते हैं। यहाँ तुलसी की जीवन-संदृष्टि भी उन्मीलित होती है- उनके कथित विरोधी निर्गुणीये यद्यपि सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा); साखी-दोहरे-उपाख्यान, वाले कबीर और सूफी से वे परे हैं; नारी-संशय का समाधान पवित्रतावादी मर्दवादी परीक्षाओं द्वारा करते हैं, तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार को ही नैतिक तथा सही मानते हैं। अंततः वे कलियुग में भक्ति (विकास, सामाजिकता, समानता, स्वतंत्रता के बजाय) और मुक्ति को प्रयोजन बताते हैं। इसी अनुक्रम में निष्कर्ष है- राम राज्य की भविष्यवादी यूटोपिया।

स्वयं तुलसी सत्ता एवं संपूर्ण जनता के अंतर्विरोधों को समझाने के रास्ते पर ब्रह्म (राजा) राम तथा ग्रामीण आदिवासी गिरिजन के बीच लोकतांत्रिक जैसी एकता की वकालत करते हैं। (वे प्राकृतजनों अर्थात् राजाओं के विपक्ष में खड़े हैं) उनके लिए कविताई सुरसरि-

सम है। मूलतः) ग्रामीण-कस्बाई तीर्थकारी की बेहद सारगर्भित परियोजना करते हैं जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल इटपट शिरोधार्य कर लेते हैं; इस कड़ी में रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, मैनेजर पांडेय, (तथा रमेश कुंतल मेघ) शामिल हो जाते हैं। अतः क्या तुलसी बाबा अपने शब्द-आयुधों द्वारा समाज सुधारक बनाम कवि को समानधर्मा बना डालते हैं?

अथच, इस प्रसंग में तुलसी का जीवन-बोध (लाइफ व्यू) का अनुमान लगाया जा सकता है। उसमें राजनीतिक-आर्थिक-पारिवारिक संदर्भों की विचारधारा तथा आर्थिक यूटोपिया खिल-खुल पड़ती है।

अ) उसमें राम बनाम काम के प्रखर अवगुंठित अंतर्निहित द्वंद्व है। कलिकाल में भक्ति तथा रामराज्य में मुक्ति की आस्था... नियति एवं माया के बीच दूसरी ही संचालिका है। कुल मिलाकर तत्कालीन लोक-संग्रह भी संपुष्टि है।

आ) भक्ति के अंतर्गत वे इससे जीवन की व्यावहारिकता के ग्राम्यात्मक पारिवारिक अनुरूपता में अवतरित होते हैं।

इ) उनका समन्वयवाद तो विविध धार्मिक-दार्शनिक सामाजिक अंतर्विरोधों का सामंजस्य करता है। यह किसी भी आधुनिक समाज की संरचना के काफी समीप हैं। जब वे भक्त के बजाय एक मामूली ग्रामीण होते हैं ते अपने ढंग से पैराडॉक्स के कौतुकों से भी खेलते हैं— राम की छोटी धनुही बनाव शिवधनुष, रथी रावण बनाम बिरथु रघुवीरा, हनुमान जी की जलती पूँछ बनाम सोने की लंका दहन, कुंभकर्ण का विदूषक तत्व बनाम प्रताड़ित वानर-सेना, वनवासी पति बनाम कोटि मनोज लजावनहारे पतिदेव राम आदि आदि। “काम” के अनुपम प्रसंगों में शिव-पार्वती का विवाद, नारद-मोह प्रसंग, शूर्पनखा द्वारा राम लक्ष्मण के प्रति मोहाकर्षण। ध्यातव्य है कि

देवताओं के शरीर से साधना भी की जाती है, जबकि मानवशरीर द्वारा भोग। (काम श्रीराम के चरणों में निवास करता है।)

तुलसी भी तो आजीवन द्वंद्वग्रस्त रहे हैं। मसलन दोनों “मंगल” काव्यों तथा “नहछू” में वैदिक रीति के पश्चात् लोकरीति द्वारा ही संस्कार संपन्न होता है। वे अपने जीवन तथा समाज में व्याप्त भयानक यथार्थ को “कवितावली” में निर्द्वंद्व खुलकर उद्घाटित करते हुए अद्भुत समसामयिक हो जाते हैं। यारों, दिलवरों! तुलसी तो हमारे जातीय महाकवि जो हैं (“बाणभट्ट की आत्मकथा” जातीय उपन्यास है, राजा राम मोहन राय “आधुनिक हिंदू” हैं, गांधी खाँटी जातीय लोकनेता हैं) तो फिर किस गुमशुदा लोकनेता की तलाश में तुलसी बाबा श्रीराम के अलावा कलियुग में ब्राह्मण को ही भू-सुर बना बैठे? हाँ जी उनका आत्मघाती अंतर्द्वंद्व बुझा नहीं है।

तो क्या हेतु तलाशें? चलो, मिथकीय कूटों (कोड) की ओर मुखातिब हों। ये आश्चर्यों, आदर्शों-पात्रों-घटनाओं द्वारा खुलते हैं। इनमें लौकिक कार्यकरण-परिपाटी ढूँढ़ना ज्यादा संगत नहीं है। ये पापनाश (उद्धार), मुक्ति, हृदय परिवर्तन, असुर-संहार, रामराज्य बनाम कलिकाल से जुड़े हैं।

इन्हीं कारणों से समन्वयवाद शनैः शनैः व्यापक **संतुलन अभिप्राय** (मोटिफ) हो जाता है— राम-शिव, निर्गुण-सगुण, भक्त-प्रभु, जीव-माया। तथापि रामराज्य संतुलन मोटिफ का चरमोत्कर्ष है। इसमें काल को नकारा गया है कि निर्धनता, रोग, क्षय, परिवर्तन व्यवस्था के अभिशाप हैं, न कि प्रारब्ध। कलिकाल में तो इनका भी त्रिताप तथा आतंक है। अतः भविष्य की संयुक्तियों के लिए **खोज** तथा **सिद्धि**। संक्षेप में : हनुमान की खोजें, राम की खोजें, विभीषण की खोज। ये खोजें तुलसी के माध्यम से हमें पवित्र देह, पूर्णकाम समाज की ओर लिये जाती हैं अहिल्या-

अनसूया-सीता के आधार हमें तारा-रूमा, मंदोदरी, शूर्पणखा-त्रिजटा की नारी-भव्यता तथा प्रणयोदात्य को देह की प्रार्थना सिद्ध करते हैं। यह भी लगता है कि तुलसी बाबा लौकिकता बनाम अलौकिकता से निरंतर जूझते रहे हैं। देवता के बजाय **देवत्व के यथार्थ** में आकर स्थिर हो गये हैं। मसलन स्वर्णमृग-प्रसंग के बाद श्रीराम की (नर) **लीला** तथा **कर्म** के बीच एकात्मक है। अंतर्लीनता कायम होती है। हम मालूम करें कि क्या यथार्थ का विपरीत आदर्श के बजाय क्रांति है (विपरीत तो सत्य है)? अतः यहां पात्र, घटनाएँ तथा चरित्र ही नहीं रहता बल्कि प्रतीक तथा अवधारणाएँ भी हो जाती हैं। वे किसी न किसी महत् सामाजिक-पारिवारिक-धार्मिक मूल्य को प्रतिष्ठापित करने के संवादी कर्त्ता है।

मिथकों एवं महाकाव्यों की दुनिया भी परिवर्तनशील है जो समसामयिकता से भी जुड़ती-बिछुड़ती रहती है अर्थात् उनमें यथार्थ आद्यरूपात्मक (आर्केटाइपल) होता है अर्थात् उनका आदर्श वास्तविकता के विपरीत न होकर आंतरिक अधिभूमिका वाले सत्य को प्रकट करता है। भाईजान, धर्म में जब "लौकिक प्रमाण" से सदैव बात नहीं बन पाती, तभी "दिव्य-प्रमाण" की पेशगोई होती है- यथा सती-मोहभंग, सीता की अग्निपरीक्षा, रावण-दरबार में अंगद का पाँव आदि आदि। इसी कड़ी में तुलसी के कलिकाल के समाज से छेड़छाड़ तो करें। उसमें टूटती वर्णव्यवस्था और टूटते कुटुंब की पीड़ा है। अतः बाबा ने किसी पात्र को नरक नहीं भेजा। उन्होंने सब कुछ डरावने पशु-पक्षियों के उपमानों की भरमार करके सामंतीय व्यवस्था की क्रूरता, भय, पाशविकता, रोग, अशिक्षा, आतंक, अन्याय, गरीबी, दुर्भिक्ष, महामारी को दस्तावेज बंद किया है। अतः ये बाबा तो (नागार्जुन की तरह) हमारे समासामयिक भी हैं।

यहाँ जरा विनिर्मिति (डि-कांस्ट्रक्ट) तो करें

अगर 'महाभारत' के परिवृत से वासुदेव कृष्ण को हटा दें तो पंच पाण्डव व द्रौपदी सनातन वनवास भोगते हुए गुमनाम हो जायेंगे। फिर अगर 'रामचरितमानस' से अगर हनुमान को हटा दें तो श्रीराम-लक्ष्मण ऋब्यमूक पर्वत में भटकते रहते और मारीच-वध के बाद कोई लीला वीला नहीं कर पाते। ठीक है, न!

अब नतीजा तो निकालें, श्रीमानजी!

तुलसी का एक गहरा घाव जो निरंतर रिसता टीसता है वह अंततोगत्वा दरिद्रता है- दरिद्रतारूपी दशानन। इस निष्कर्ष से उन्होंने अपने सामंतयुग तथा "रामचरितमानस" की उथल-पुथल-उठापटक कर डाली। इसी तरह "मानस" के बाद जब उन्होंने जलती चिता से उठकर भागती हुई एक (सती?) नारी को देखा, तब से सदैव के लिए जीवन पर्यन्त नारी-अवमानता को खत्म कर डाला। ये दोनों पक्ष ज्यादा प्रासंगिक तथा अजेय हैं। किंवा, चिरंतन वर्तमान हैं।

उन्होंने सामंतीय मध्यकाल में रावण के दस शिरनिर्णित बताये हैं- गरीबी, अकाल (दुर्भिक्ष), महामारी, राजयोग, अशिक्षा, कुशासन, पाप, अग्निकांड, टूटते कुटुंब तथा टूटती वर्णाश्रम प्रणाली। यह तो सामंतीय व्यवस्था का सच्चा जनवादी इतिहास दर्शन है। वे और भी पाखंडी मध्यकालीन वास्तविकता को भोगते हैं- उनके संदर्शन में पशु-पक्षियों की भीड़ (विनय पत्रिका) जमा होती तथा संबोधनों के मुखौटे अपना चेहरा दिखाते हैं- साहेब (महेश), गरीब (नेटाज), सूर-सिरताज।.... यही नहीं, तुलसी बाबा का भाविक लोक भी अजीब होता जाता है, संस्कृतधारा से विचलन करते हुए नई काव्यकृति (पोएटिक्स) प्रबल होती है-

आखर, अरथ, अलंकृति नाना, छंद, प्रबंध, अनेक बिधाना, भाव भेद, रसभेद अपारा, कबित, दोस गुन, विविध प्रकारा, धुनि, अवरेब, कबित, गुन, जाती, मीन मनोहर ते बहुभाँती। बचन प्रवीन/ कबित

विवेक।

ऐसे में उनके रचना संसार में “द्विपर्ण-विरोध” (बाइनरी अपोजीशन) अनवरत सक्रिय रहे हैं— ब्रह्म-माया, निर्गुण-सगुण, अवतार-उद्धार, ज्ञान-भक्ति, संत-सामंत, नारी-शूद्र, कुल-शील, भक्ति-मुक्ति इत्यादि। सामंतीय वास्तविकता तथा यातना की यह ज्यादा प्रामाणिक जनवादी एस्थेटिक्स है। वे गणलोक अर्थात् कबीलाई समाज तथा जनगण को आर्य परिधि में शामिल कर लेते हैं। उनके पूज्य गण चिह्न प्रिय हैं। (टो टेम) - वानर, गिद्ध, रीछ या फिर निष्कपट निषाद, शबर आदि बालकांड के पश्चात् तो सारा इतिवृत्त वन-पर्वत-गुफा-समुद्र आदि में घटित होता जाता है। राम इस तरह मर्यादा पुरुषोत्तम बनते चले जाते हैं। हनुमान में तो कई आयाम गुत्थम-गुत्थ हो जाते हैं। उनका तो अपना महालोक भी है।

इस खंड के अंत में “द्विपर्ण विरुद्धता” के संसर्ग में क्रौंच वध से लेकर सीता के पाताल--प्रवेश तक सर्वत्र करुणा और वियोग के विभाजन-विभक्तियाँ छाई हैं, दशरथ-राम, राम-सीता (हरण), लक्ष्मण-उर्मिला, कैकेयी-भरत, राम-कौशल्या, विभीषण-रावण। इसके अलावा कबीलाई धुरी पर सुग्रीव-रूमा, बालि-तारा, मेघनाद-सुनयना, रावण-मंदोदरी भी हैं। ये यौन तथा सेक्स की आदिम, सहज, उन्मुक्त नीति के पालने वाले हैं। नारियाँ विधवा होने पर अन्य की आत्मीय सम्मानीय पत्नियाँ बनकर सुंदर-स्वस्थ जीवन बिताने लगती हैं।

यहाँ तुलसी समन्वय, संतुलन, मोक्ष। पुण्य, पापनाश आदि की तरकीबों का रूपांतरित इस्तेमाल करते हैं। इस भाँति एक **कृषक-समाज** तथा **कृषक-रोमांटिसिज्म** के हाशिये तुलसी को भक्तकवि की टक्कर में इहलोक संद्रष्टा भी साबित करते हैं। यह भी प्रकट होता है कि तुलसी ने एक **संकल्पित संप्रदाय** को लिया है। प्रकारांतर से कल्पित-समुदाय की भी

छींटे छापी हैं।

(घ) अब पात्रों तथा हस्तियों की अशेष चर्चा अथवा जिक्र करें।

एक सबसे पहले नब्बे पार तुलसी बाबा की समसामयिकता।

- 1) भारतीय लोकजन “मानस” में निहित आद्य प्रारूपों (आर्केटाइप्स), मिथकों तथा प्रजातीय बिम्बों के निर्माण परिवर्धन में तुलसी की महत्ता (युगजीवने की शक्त एवम् सामाजिक संकल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए)
- 2) ग्रामीण-कृषक-समाज और आद्य संस्कृति की ऐतिहासिक और पारलौकिक अनुमितियों-मान्यताओं के बहुरूपी दर्पण (कृषक-समाज तथा कृषक-रोमांटिकता)।
- 3) मध्यकालीन शाही पवित्र शहरों तथा लौकिक इलाकों का उपनगर-निवेश (टाउन प्लानिंग), प्रशासन, जनसंख्या-रचना (डेमोग्राफी) डगर और गल।
- 4) आंचलिकता: अवधी, ब्रजी, बुंदेली, लोक रिवाज, लोक प्रथाएँ, लोक संकुल, लोकभूषा।
- 5) अरण्य-संस्कृति का तापसी, सरल, पावन, भोला, उपछायाई दार्शनिक स्वरूप।
- 6) स्वयं वयोवृद्ध (तुलसी बाबा का वर्तमान जीवन-बोध तथा मध्ययुगीन बोध)।
इनके संघट्ट में मध्यकालीन संबोध

(अ) दास्य भाव तथा सेवाभक्ति

(ब) राजनीतिक-आर्थिक-पारिवारिक संदर्भों की जागरूकता

(द) राम के प्रति उन्मुखता, हनुमान को माध्यम मानकर आराधना

स्वामी रामानंद ने भक्ति-आंदोलन से प्रेरित तीन दिशाएँ— राम बनाम काम, कलिकाल बनाम रामराज्य तथा हनुमान बनाम अनाथ रामबोला। और आज—

संशय से विमुक्ति लोकमंगल की चेतनता, कृषक मानसिकता की रुढ़ियों, दिवास्वप्नों, अपेक्षाओं की जाँच-पड़ताल।।

प्रसंगात् ग्राम-संरचना में दलित तथा पिछड़ी जातियों (परजा-परजउरी) की सूची के प्रति तुलसी जागरूक रहें- नाई, धोबी, दर्जी, माली, कहार, भुंजवा, चूरीहारिन आदि का संबंध किसी जिंदगी से है। गाँव में इन्हीं को परजा या परजउरी कहते हैं।

अगर तुलना करें तो आधुनिक-वर्तमान भारतीय समाज में भी ये जनभेद कतिपय विद्यमान हैं।

.....

- दो :** दूसरे नंबर पर तुलसी के कितने राम पाँच या छै राम अथवा विष्णुराम, परब्रह्म राम
- रामलला नहछू में ग्राम विन्नम में राजमहल का विभ्रमित रसिक समाज में बालक राम, दूल्हे ठाकुर/मस्ती, खुलापन।
 - रामचरितमानस में परब्रह्म एवं मर्यादापुरुषोत्तम वनवासी रामावतार
 - विनय पत्रिका में महाराजाधिराम का (आइने रामीयन) दरबार, सभासदों के साथ जहाँ तुलसी अपने उद्धार की अर्जी पेश करते हैं। गरीब नवाज राम। तदपि परिव्याप्त आतंक-अन्याय था भ्रम भी।
 - "कवितावली" में उस समय का भय और दुर्दशा, शिवनगरी काशी गुर्गति, कलिकाल।
 - "गीतावली" में त्रासद विश्रांति (ट्रेजिक रिलीफ) की अनुभूति
 - 'जानकी मंगल' अशुभ वेश, अशुभ गण शामिल (शिव पक्ष में)
 - पार्वती मंगल- वेदरीति तथा लोकरीति का संगम इनमें राम सहसंयोजक (को-ऑर्डिनेटर जैसे हैं)।
 - 'हनुमान बाहुक' - तालाबंदी, मोहभंग। तुलसी

विशुद्ध हैं, पीड़ाग्रस्त। हनुमान से शिकायतें।

(इसी के कंट्रास्ट में **दरिद्रतारूपी रावण** से तुलना करते हुए "धर्मरथ" का बहुविध सांगरूपक देखें तथा योद्धा राम को भी चीन्हें)

तुलसी के अपरंपार विनयशीलता की पृष्ठभूमि में भी दिक्कतें आती हैं। काल की गति सर्वत्र सम नहीं होती। वह वक्र तथा खंडित तथा सापेक्ष भी होती है। भाववादी चिंतन रुढ़ियों तथा अंधविश्वासों को भी जन्म देता है। तदपि कला तथा एस्थेटिक्स के बाहर भी मिथक का उन्मीलन होता है। 'मानस' की विवादास्पद स्थापनाओं को हम आधुनिकता के आयाम में खारीज करने के बजाय अंतर्विरोधों की जाँच कर सकते हैं। आजादी की शुरुआत तो रामराज्य के संकल्प से हुई क्योंकि वह कलिकाल तो हमारा भी है। फिर, नई पीढ़ी का तुलसी से शर्तनामा की कैसे शुरुआत करें। संप्रति कबीर तुलसी से आगे तथा नई पीढ़ी में मसीहा हैं। वे विप्लवी (रेडिकल) हैं, तुलसी की तरह संपूर्ण कालोत्तीर्णता में वे पीछे हैं। सो, क्या कबीर के सहवर्तन में तुलसी विरुद्ध नजर आते हैं? इसलिए धर्मभाव और श्रद्धा-अभिवृत्ति से नई शर्तें तय करो। वे मूलतः कवि है। इस स्वरूप में इन्हें देखते रहो। सुधारक के स्वरूप में उनकी प्रतिष्ठा शंका के धरे में आ जाती है। केवल धर्मभाव से "मानस" का पारायण नहीं करें। उसे इतिहास दर्शन का एक प्रमुख स्रोत बनाएँ। यह एक प्रासंगिक चिंतन की चुनौती है। आज हम भी "प्राकृत जनों" का गुणगान नहीं कर सकते। तुलसी ऐसे खराबों के जयगान पर अपनी वाणी का सिर धुनवा कर पछताते हैं।

अब यात्राएँ! बुद्ध की तरह राम भी दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया की यात्राओं में चले हैं। वे एशिया के भूगोलयोजक हैं, बुद्ध की तरह महज कुछ टिप्पणियाँ: जापान की 'रामाएन्शों' में हनुमान अनुपस्थित हैं। एक 'वामायाका' के पाठ में राम वंशीवादक हैं जो

अपनी अपहृत पत्नी लिमेमीनी के साथ बच निकलते हैं जब उसका अपहरणकर्ता राजा बारामोन आखेट में गया होता है।

- चीन में रामायण-प्रभाव वानर-साम्राज्य की रचना में हुई। उसमें सुन बू कांग हनुमान हैं। (सोलहवीं सदी में)
- मंगोलिया में राम के सात वनगमन लक्ष्मण के बजाय भरत करते हैं।
- मलय देश में वानर राजा हिजायत तथा हिमायत मेरी राम राम आते हैं।
- थाई देश में हनुमान जल अप्सरा पुतेरी ईमान से विवाह करते हैं।
- कंबोडिया अंगकोरवाट में "रियमकेर में अंगकोरवाट के मंदिर में रिलीफ में रामकथा उत्कीर्ण है।"
- इंडोनीसिया (दसवीं शताब्दी) में काकाविन में कृष्ण तथा अर्जुन श्रीराम और लक्ष्मण से भेंट करते हैं।

ध्यातव्य हो कि राम सेतुबंध से वापस अयोध्या आ जाते हैं। फिर यात्राशर थाईदेश, फिर मलय सुमात्रा बाली में, फिर सुखोथाई में, लवदेश (लाओस) में, माँ गंगा (मीकांग), बंजल सेरी बागेवान (बोर्निया का बंदा श्रीभगवान), काली मंतान (इंडोनीसिया का कालिय मंथन) में फिर चीन, जापान आदि में व्यापारियों-गुरुजनों के द्वारा आच्छादित होकर गोबी के रेगिस्तान

तक जारी रही थी। (श्रीकृष्ण तो मणिपुर से आगे नहीं गये।)

आज यह एक करिश्मा ही है कि तब के पवनसुत हनुमान तथा निर्धन अनाथपुत्र तुलसी की यह अनंत एकता है, मिथकेतिहास में। इसीलिए "तुलसीयाना" निरंतर देदीप्यमान है, आज तलक मंत्री जगजीवन राम से लेकर कांशीराम, रामविलास पासवान तक।

हाँ हमने कितने रामों, कितने तुलसीयों से साक्षात्कृत किया है, करते रहेंगे। तुलसी के राम अनंत, रामकथा अनंता है। यह इतिहास का श्रृंगार तथा गौरव और प्रारब्ध है।

.....

अज़ीज़ हमनवाज़! सबसे अंत में सौंदर्य-शोभा तथा प्रकृति के हाशियों अतिरिक्त अनुसंधान की माँग करते हैं जो अविराम बेहिसाब चिंतन की अस्मिता वाला है। तथापि प्रकृति से हम समापन करते हैं। तुलसी की प्रकृति के दो पटल हैं- सागर व वनकांतर, फिर आश्रम में गोष्ठियाँ पहले नैतिकता का उपदेशात्मक अभिग्रहण है। दूसरे में चंद्रोदय देखकर राम द्वारा प्रकृति-सौंदर्य की सहज एस्थेटिका वाला है। इससे राम को प्रतीतिसमानुभूति (इम्पैथी) परक है जिसमें विविधताएँ हैं।

तमाम शुद्ध। बकलम रमेश कुंचल मेघ ।। पच्चीस फरवरी, 2017।।

आज का लातिन अमरीका

- रमेश कुंतल मेघ

कथान्तर, अंक-19, अगस्त 2016

विश्व राजनीति में कहा जाता है कि आज के अफ्रीका और लातिन अमरीका (दक्षिण अमरीका और कैरिबियन द्वीप-समूह) अगामी कल के महाद्वीप हैं। यह भी कहा जाता है कि हमारे देश और लातिन अमरीका की समान दशाएँ हैं, पर इसके साथ ही यह भी सही है कि आज भी बीस लातिन अमरीकी गणतंत्रों में से लगभग आधे में ही हमारे दूतावास हैं। चौथे दशक में जब जवाहरलाल नेहरू पराधीन मानवता की स्वतंत्रता की कल्पना से आन्दोलित थे, उन्होंने इस महाद्वीप का भारतीयों को पहला परिचय दिया था— “यदि तुम भूगोल या एटलस से परामर्श लोगे तो तुम्हें एक देश आज़ाद और स्वाधीन प्रतीत होगा। लेकिन यदि तुम पर्दे के पीछे झाँक कर देखोगे तो तुम्हें यह एक दूसरे देश के पंजे में जकड़ा मिलेगा।... यही “अदृश्य साम्राज्य” है जिस पर संयुक्त राज्य अमरीका का आधिपत्य है।... ऐसे प्रातिभ ढंग का इस्तेमाल करना ही आर्थिक साम्राज्यवाद कहलाता है। नक्शा इसे नहीं दिखाता। दौलत पर नियंत्रण करने के जरिये से किसी देश के लोगों पर और वास्तव में खुद उस देश पर, नियंत्रण करना काफी आसान है।” (ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ०-571)। कौन कह सकता था कि इन पंक्तियों को लिखने वाला अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद इन देशों की आर्थिक पराधीनता के खिलाफ़ आवाज उठाने के बजाय अपने देश में ही जाने-अनजाने इसी प्रकार के आर्थिक और बौद्धिक साम्राज्य की नींव मजबूत करता रहेगा।

इन दिनों यह पर्दा गाढ़ा होता गया है। पर विश्व के रंगमंच पर क्यूबा, ग्वाटेमाला, अर्जेन्टीना आदि की हाल की घटनाओं ने पुनः इस कुहासे को चीरा है और हमारा ध्यान लातिन अमरीका की ओर, उसके सारे अतीत और वर्तमान के साथ, आकर्षित हुआ है। इतने

बड़े संघर्षशील महाद्वीप के पूरे आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे पर एक साथ विचार करना आसान नहीं है। हम मुख्यतः सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं पर अपना विशेष ध्यान केन्द्रित करेंगे। परन्तु इन पर विचार करने के लिए लातिन अमरीका की पहचान भी ज़रूरी है अर्थात् भूमि और जन, उसके अर्थतंत्र और सामाजिक जीवन, उसकी संस्कृति और इतिहास के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी लाजिमी है।

भूगोल की दृष्टि से यह ऊँचे-ऊँचे पर्वतों (एन्डीज), विशाल मैदानों (पम्पाज), रेगिस्तानों (अटाकाम), घने जंगलों (अमेजन) का देश है। आज भी महान् नदियाँ, विशाल पर्वत, आवागमन तथा परिवहन की कमियाँ आदि इसमें विविधता बनाये हैं, उसके बावजूद इसकी एकता-बोध भी होता है। भौगोलिक रुकावटों के होते हुए भी, वहाँ के राष्ट्रों की एकसूत्र करने वाले कई शक्तिमान तत्त्व भी हैं। लातिन अमरीका के साथ कैरिबियन गोलार्द्ध का “स्ट्रेटिजिक” मूल्य बहुत है। उन्नीसवीं सदी से इसीलिए स्पेनी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज और संयुक्त राज्य अमरीकी यहाँ शक्ति-संतुलन कायम करने के लिए बेचैन रहे हैं। मूल महाद्वीप के वेनेजुएला, कोलम्बिया, इक्वाडोर, पेरू, तीनों गायना, ब्राजील, बोलिविया, पारागुए, उरुग्वे और अर्जेन्टीना आदि तथाकथित बीस गणतंत्रों की जनसंख्या बीस करोड़ अस्सी लाख और क्षेत्रफल लगभग अस्सी लाख वर्ग मील है अर्थात् धरती के 16% में उसकी कुल 7% जनसंख्या रहती है। यह आबादी भी विशेषतः अर्जेन्टीना, ब्राजील, चिली की घाटी और मैक्सिको के पठार में केन्द्रित है। यहाँ के मूल निवासी “इंडियन” हैं, पर आज सारे दक्षिण अमरीका में इंडियन, श्वेत और नीग्रो जातियों का मिश्रण है। जातीय रचना के हिसाब से आज अर्जेन्टीना (51% प्रति गोरे) तथा

उरुग्वे में प्रधानता श्वेत लोगों की, वेनेजुएला, चिली, परागुए और कोलम्बिया में मेस्टिजो लोगों की, पेरू, बोलिविया, इक्वाडोर और मैक्सिको में इंडियनों तथा मेस्टेरा की, हैती में नीग्रो लोगों की, हांडूरास में नीग्रो तथा इंडियनों की मिश्रित आबादी है। यह जातीय संरचना सन् 1830 के आसपास निश्चित हो गयी थी। मूल निवासी इंडियनों ने अजटेक (मैक्सिको), माया और इन्का (पेरू) जैसी समुन्नत सभ्यताओं का निर्माण किया था। यह महाद्वीप खनिज सम्पत्ति से समृद्धि है, तेल (सारे संसार का लगभग चौथाई), ताँबा (छठे भाग से अधिक)। यहाँ की 890 मि. हेक्टेयर वन-सम्पदा में से अभी तक 329 मि. हेक्टेयर का उपयोग हो सकता है। अभी तक जितनी खेती और औद्योगीकरण यहाँ हुआ है उसी के आधार पर इस सदी के चौथे दशक में बोबिनिया के निर्यात में 70% से अधिक टिन था, चिली के निर्यात में ताँबा और नाइट्रेट 60 से 75% तक था, पानामा तथा हांडूरास के निर्यात में केला क्रमशः 70% और 80% से अधिक था, वेनेजुएला के निर्यात में पेट्रोलियम 96% था; क्यूबा के निर्यात में चीनी तथा तम्बाकू 80% था, निकारागुआ के निर्यात के काफ़ी और केले 80 से 90% थे, पेरू के निर्यात में ताँबा, पेट्रोलियम और कपास लगभग 75% थी; तथा ब्राजील, कोलम्बिया, ग्वाटेमाला, एल-साल्वेदोर, हैती जैसे कॉफी निर्यात 50 से 90% तक काफ़ी का ही हिस्सा था।

उपर्युक्त के हालात के कुछ नतीजे निकाले जा सकते हैं— (1) इन देशों ने एक, दो या तीन मालों के निर्यात की विशेषज्ञता प्राप्त कर ली है, जिससे इनके अर्थतंत्र का सर्वांगीण विकास नहीं हो सका और न ये देश अपने लिए खाने के लिए अन्न पैदा कर सके। आश्चर्य होता है कि कृषि प्रधान यहाँ के देशों को अन्न, दालों और आटे के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। इन दिनों निर्यात के मालों का एक तिहाई से तीन चौथाई हिस्सा विदेश भेज दिया जाता रहा जिससे एक ओर तो इन देशों को निर्यात के लिए

विदेशी मंडियाँ खोजनी पड़ी, दूसरी ओर व्यापार का संतुलन बिगाड़ना पड़ा, तीसरी ओर नगदी फ़सलों की कीमत पर अन्न-फ़सलों की उपेक्षा की गयी और अन्त में व्यापार का सन्तुलन क़ायम रखने के लिए और औद्योगिक माल के लिए यूरोप तथा सं.रा. अमरीका पर आश्रित रहना पड़ा। अतः अब ये देश आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर और आधीन रहे। (2) बड़े भू-मालिकों और बाहरी व्यापारियों (लैटिफ़िडस) का समाज-व्यवस्था पर नियंत्रण होने की वजह से यहाँ के देशों को आय पर और विरासत कर जैसे वित्तीय साधनों से वंचित होकर सं.रा. अमरीका से विदेशी कर्ज़ और मदद लेनी पड़ी जिससे उनके अर्थतंत्र पर विदेशी पूँजी हावी हो गयी। विदेशी जिस देश को मजबूर करना चाहते थे उसके प्रधान निर्यात को रोक देते थे जिससे उस देश में भयंकर वित्तीय संकट छा जाता था और वह लाचार होकर उनके आर्थिक पंजों में जकड़ जाता था। फलस्वरूप कई देशों में बिजली, पानी, रेलवे, डाकतार जैसी राष्ट्रीय आवश्यकताओं पर अंग्रेजी-अमरीकी निजी पूँजी लगी है। इन देशों में "नाइट्रेट सम्राट", "केला-सम्राट" और "रबर-सम्राट" जैसे बड़े-बड़े इज़ारेदार मिलते हैं। विदेशी पूँजी और राष्ट्रीय पूँजी की सुलह की वजह से कोई भी सार्थक भूमि-सुधार और उद्योग-सुधार लागू नहीं किये जा सकते। भूमि स्वामी, व्यापारी और उद्योगपति तानाशाहों (कांडिलों) की मदद से ऐसे क़ानून पास कराते चले आ रहे हैं जो उनकी स्थिति को मज़बूत करते रहे। उदाहरण— ग्वाटेमाला की ऑर्बेन्ज की सरकार के वितरण सम्बन्धी कार्यक्रम का विरोध केवल वहाँ के जमींदारों तथा व्यापारियों ने ही नहीं किया, बल्कि शक्तिशाली सं.रा. के हितों ने भी किया और विदेशी हमले द्वारा उस सरकार का ही तख़्ता पलट दिया गया (1954)। (3) यहाँ की जातीय संरचना में ही उसकी अराजक क्रांतियों की चेतना तथा विषम समाज-व्यवस्था का दर्पण मिल जाता है। पहले स्पेन तथा पुर्तगाल में जन्में श्वेत लोग आये जो पेनिनसुलारेज

कहलाये; फिर पुर्तगाली और स्पेनी रक्त के किन्तु यहाँ जन्मे लोग जो क्रियोलोज़ कहलाए; फिर इंडियनों तथा स्पेनी-पुर्तगालियों की वर्ण संकर मेस्टिजोस जाति हुई; इसी प्रकार नीग्रो तथा स्पेनिशी वर्णसंकर से मुलोतो जाति बनी। इस प्रकार आज का लातिन अमरीका जातियों के मिश्रण का विचित्र देश है। स्पेनी और पुर्तगाली लोग दासों के नृशंस व्यापारी रहे हैं “नयी दुनिया” में नीग्रो जाति की वंशवृद्धि के बजाय अप्रीका के अपने उपनिवेशों से ये नये और जवान गुलामों का आयात किया करते थे, यह अधिक सस्ता पड़ता था। बड़े-बड़े ज़मींदारों और बाग़ान मालिकों ने इंडियनों का इसलिए भी पूरी तरह उन्मूलन नहीं किया, क्योंकि उन्हें खेतों में गुलाम-मजदूरों की ज़रूरत थी। एक तरह से इस जातीय संरचना ने लातिन अमरीका के सामाजिक गठन और उसके अन्तर्विरोधों को भी उद्घाटित कर दिया है। इंडियन बेखेतिहर किसान हुए जो या तो क्रियोलोज़ या फिर मेस्टिजोस लोगों के गुलाम बने। शहरी क्रियोलोज़ोस ने पेनिनसुलारों से विद्रोह किया और बाद में वे ही क्रांतियों के अगुआ बने। क्रियोलों ने न्यस्त स्वार्थों के भी पारस्परिक संघर्ष चले, क्योंकि वे खुद पेनिनसुलारों की जगह प्रतिष्ठित होने के लिए बेताब थे। इस तरह लातिन अमरीका में जो क्रांतियाँ हुई उनका रूप या तो एक सामंतीय प्रभुत्व को दूसरे से स्थानान्तरित करना होता था अथवा एक सामंतीय प्रभुत्व को शहरी व्यापारी वर्ग (लैटिफ़न्डिस) से स्थानान्तरित करना। अतः हर क्रान्ति और संघर्ष का परिणाम वहाँ के इंडियनों तथा नीग्रो लोगों के लिए केवल मालिकों की अदल-बदल रही है। इनसे किसी वास्तविक सामाजिक क्रान्ति की आशा व्यर्थ थी।

× × ×

लातिन अमरीका का इतिहास उसके गणतंत्रों के प्रशासनिक, फ़ौजी और सामाजिक गठन पर प्रकाश डालता है। यहाँ स्पेनी पहले आये और पुर्तगीज बाद में। ये अन्वेषक उपनिवेशवादी हो गये, यह रोचक कथा है। स्पेनियों के आने के पूर्व अमरीका में अज़टेक,

इन्का तथा माया जैसी बर्बर तथा संस्कृत सभ्यताएँ मौजूद थीं। सन् 1520 के बाद नाविक अन्वेषक क्रूर विजेता (कान्विस्तेडोर) भी बन गये। उन्होंने स्पेनी अमरीका का “शहरी ढाँचा” गढ़ा। यहाँ पहले घोड़े नहीं थे और अज़टेक निवासी लकड़ी की गदाओं, भालों तथा धनुष-बाण का इस्तेमाल करते थे। अनेक बर्बर अन्धविश्वास के शिकार होकर भी वे एक महान् सभ्यता के निर्माता थे। घोड़ों तथा बन्दूक की ताक़त, धोखेबाज़ी और नृशंसता के सामने अजेटक और इन्का साम्राज्य टिक न सके, हानान् कोर्टेस तथा पिज़ारों जैसे क्रूर विजेताओं ने उनके सुन्दर नगर नष्ट किये, उनकी अपार सम्पत्ति लूटी। इसी प्रकार गल्डीविया ने चिली को जीता। पुर्तगालियों ने ब्राज़ील में सबसे पहले कदम रखा और “पुर्तगाली ब्राज़ील” में अंगोला से नीग्रो-गुलामों को लाने लगे और गुलामों की खरीद-फ़रोख़्त की कई मंडियाँ स्थापित हुई। राज्य को दृढ़ करने के साथ ज़मींदारी चली और विजेताओं ने यहाँ की आदि जातियों तथा आयात गुलामों के साथ बहुत क्रूरता तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया। यहाँ बस जाने के बाद इनको शहर के बाहर की बस्तियों में मिट्टी-फूस की झोपड़ियों में रहने वाले इंडियनों की लड़कियों की आवश्यकता हुई, जिसके वर्णसंकर से “मामेलुकोस” जाति बनी। फिर इन मामेलुकोसों को मालिकों के साथ इंडियनों के क़बीलों पर क़ब्ज़ा करने, इंडियन (गुआरानी) महिलाओं की लूट में भाग लेते रहे, गुलाम पकड़ने वाले सरदारों (वैण्डिएरांटेस) की टोलियों के साथ क़बीलों पर जुल्म करते रहे। ये सरदार क्रूर, भ्रष्ट और नृशंस थे, इन्होंने अपने स्वार्थवश ब्राज़ील में कपास और काफ़ी की फ़सलों का विकास किया। अतः धीरे-धीरे ये लुटेरों से भूमि स्वामियों (फ़ेज़ेन्डोरोस) में रूपान्तरित हो गये। इन्होंने ब्राज़ील को साम्राज्य से गणतंत्र में बदला, पर सन् 1808 में ब्रिटेन ने यहाँ पुर्तगाली ताज और दरबार स्थापित किया। सम्राट के लौट जाने पर भी उसका बेटा पेड्रो प्रथम धीरे-धीरे ब्राज़ील को उदारता के मार्ग पर ले चला, रियो-डि-

जेनियरो में पार्लियामेन्ट को अधिक अधिकार दिये। परन्तु यह सब भूमिस्वामियों के हितों के विरुद्ध था, अतः इन्होंने नृपतंत्र का खात्मा कर दिया। सन् 1891 में जनतांत्रिक संविधान लागू किया, पर राजनीतिक ताकत कुछ गिने चुने परिवारों में केन्द्रित हो गयी।

चाहें पुर्तगाली ब्राजील हो या स्पेनी अमरीका यहाँ जेसुइट पादरियों की भूमिका महत्त्व की है। उपनिवेशवाद के प्रसार में ताज और गिरिजा दोनों का गठबंधन रहा है। जहाँ-जहाँ पादरी चर्च कायम कर लेते थे, वहाँ तक ताज का उपनिवेश भी पहुँच जाता था। इन चर्चों के इर्द-गिर्द स्पेनी गाँव बस जाते थे और पादरी इंडियन आबादी को ईसाई बना लेते थे। मिशनों की बड़ी जागीरों में ये इंडियन यीशु के गीत गाते-गाते काम में लगे रहते थे। इस प्रकार उनको गुलामी का एहसास भी नहीं होता था। किन्तु न उन्हें शिक्षित किया गया और न समान अधिकार दिये जाते थे। धार्मिक श्रद्धा से उन्हें अधिक छला गया। उधर फ़ौजी विजेताओं और गुलाम व्यापारियों-लुटेरों को आज़ादी थी कि वे गुलामों को जानवरों की तरह हलाल करें। खदानों के मज़दूरों को पूरे हफ़्ते में केवल एक दिन भूगर्भ से बाहर जाने की इजाजत थी; और वे रात-दिन काम करते-करते मर-मिट जाते थे। उनकी जगह नये पकड़े हुए जवान ले लेते थे। क्रमशः चर्च और पादरी समूह भी विपुल धनवान हो गये कि उन्होंने “साम्राज्य के अंदर एक साम्राज्य” ही कायम कर लिया। इनकी बढ़ती शक्ति से मेड्रिड और स्पेनी ज़मींदार दोनों चौकन्ने हुए, वस्तुतः मूल सवाल उन लाखों गुलामों पर कब्ज़ा करने का था, जिन्हें धर्म की ओट में चर्च अधिकृत किये हुए था। अतः एक ही निहित स्वार्थ वाले पादरियों, ज़मींदारों तथा सम्राट के अधिकारियों में संघर्ष अनिवार्य था। इस द्वन्द्व में सम्राट के प्रतिनिधि और ज़मींदार मिल गये और 1767 के एक क़ानून द्वारा स्पेनी ताज ने जेसुइट पादरियों को लातिन अमरीका से निष्कासित कर दिया। अब ज़मींदार निर्द्वंद्व हो गये।

‘कूर विजेताओं के युग’ में इंडियन आबादी के

भयंकर क़त्लेआम साधारण घटनाएँ थीं। उनकी आबादी यूरोपीय बीमारियों तथा अकाल से भी लुप्त होती जा रही थी। दास व्यापार उनके युवकों को छीन रहा था। इधर स्पेनी ताज की सत्ता कम थी, पर मैड्रिड की घोषणा हुई कि “नयी दुनिया” स्पेनी राष्ट्र की सम्पत्ति न होकर ताज की सम्पत्ति है। ताज की ओर से वहाँ उच्चाधिकारी नियुक्त हुए— न्यू स्पेन, पेरू, न्यू ग्रांनेडा में वाइसराय प्रमुख थे और ग्वाटेमाला, वेनेजुएला, चिली, क्यूबा आदि में “कैप्टेन्सी जनरल” की व्यवस्था हुई। उन्होंने उच्च न्यायालय कायम किये जिसके सदस्य केवल पेनिनसुलोरस तथा क्रियोलो लोग हो सकते थे— मेस्टिज़ो और इंडियनों का दर्जा घटिया था। नगर-परिषद् (केबिल्डो) प्रशासन की इकाई थी। कूर विजेता तथा वायसराय दोनों स्पेन अपरिमित मात्रा में सोना-चाँदी भेजते रहे, इससे वहाँ अर्थतंत्र अव्यवस्थित हो गया— उत्पादन गिर गया, मन्दी बढ़ी। सन् 1796 के अंग्रेजी स्पेनी युद्ध ने साम्राज्यशाही स्पेन की कमर तोड़ दी। अब समुद्रों का स्वामी इंग्लैंड था। ब्राजील की स्थिति भी स्पेनी अमरीका के समान ही थी, यद्यपि उसे ऐसी अराजकता से नहीं गुजरना पड़ा। ब्राजील प्रमुखतः ग्राम्य सभ्यता वाला देश रहा है, नक़द फ़सलों के कारण यहाँ के भूमिस्वामियों ने उसे स्वावलम्बी नहीं होने दिया। यहाँ भी 1765 ई. में ज़मींदारों के हक़ों को सुरक्षित रखने के लिए पादरियों को निष्कासित किया गया, पर एक ओर यह संविधान “मामेलुकोसों” को आज़ादी देना था और दूसरी ओर उन्हें भूस्वामियों के पंजों से छुड़ाने की कोई कार्यवाही नहीं करता था। आगे चल कर उपनिवेश बनाने की दौड़ में फ़्रांसीसी, अंग्रेज और डच भी आगे बढ़े, पर इन्होंने मुख्यतः व्यापार के विशेषाधिकार द्वारा स्पेनी अमरीका के अर्थतंत्र पर नियंत्रण रखा है।

ऊपर की ऐतिहासिक परिस्थिति में लातिन अमरीका में स्पेनी तथा पुर्तगालियों ने नयी जातियों को जन्म दिया— मेस्टिज़ो, मुलाटो और मामेकुला।

फलस्वरूप एक नयी संस्कृति "नयी स्पेनी अमरीकी संस्कृति" का विकास हुआ जिसकी जड़ें बहुत गहरी गयीं तथा जिसका स्वरूप बहु-संस्कृतिपरक था। नगर-निवेश, प्रशासन, राजनीति, भाषा तथा साहित्य आदि क्षेत्रों में स्पेनी चेतना व्याप्त हो गयी। कालान्तर में क्रूरविजेता, गुलामों के व्यापारी लुटेरे, ताज के प्रतिनिधि, तानाशाहों आदि अनेक शक्तियों के बीच यहाँ का जीवन भूस्वामित्व से अर्ध पूँजीवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर हुआ। सामाजिक शक्तियों का ध्रुवन्तीकरण भी हुआ— एक ओर रूढ़िवादी थे और दूसरी ओर उदार तथा रेडिकल। नेपोलियनीय रूमनियत से भरे नेता महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर इस महाद्वीप पर जोखिम के कार्यों में साहसिकता दिखलाते रहे और इससे यहाँ अराजकता और अव्यवस्था का राज्य फैला। इस राजनीतिक तथा आर्थिक विशृंखलता के युग में ब्रिटेन, सं.रा. अमरीका तथा फ्रांस आदि को यहाँ हस्तक्षेप करके अपने उपनिवेशवादी चरित्र को प्रखर करने का मौका मिला। सामाजिक सत्ता-क्रम की दृष्टि से 1800 ई. में स्पेन में जन्मे (पेनिनसुलारेज़) कोई तीन लाख लोग ही अमरीका में स्पेनी साम्राज्य के आधार थे, वे ही उपनिवेशों के उच्चाधिकारी तथा एकाधिकारी व्यापारी थे, चर्च और राज्य दोनों की सत्ता पर उनका पूरा अधिकार था, फ़ोज, विश्वविद्यालयों तथा न्यायालयों पर भी उनका पूरा अधिकार था। यहाँ तक कि उपनिवेशों में जन्मे स्पेनियों (क्रियोलो) को भी वे नफ़रत से देखते थे और इंडियन तथा नीग्रो तो गुलाम थे ही। सन् 1800 में इन क्रियोलो की संख्या लगभग तीस लाख और उनके भी नीचे मेस्टिजो लोगों की संख्या लगभग पचास लाख थी। सबसे नीचे लगभग पचहत्तर लाख इण्डियन गुलाम थे। फलस्वरूप इस सामाजिक ढाँचे में विस्फोटक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मौजूद थे। बड़े संघर्षों के प्रारम्भ में क्रियोलो वर्ग ने स्वतन्त्रता के युद्धों का नेतृत्व किया। मेस्टिजोओं तथा इण्डियनों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति में इस बीच

कम ही परिवर्तन हुए; पर उन्होंने क्रान्ति चेतना की क्रमशः गम्भीर शिक्षा प्राप्त की है। 18वीं सदी के अन्त तक लातिन अमरीका की स्थिति थी, स्पेनी संस्कृति ने स्पेनी अमरीका को संस्कृति, भाषा, प्रशासन का ढाँचा तथा एक उपनिवेशवादी आर्थिक ढाँचा तो दिया, पर विज्ञान, प्रविधि तथा नागरिक स्वतन्त्रता नहीं दी।

इसलिए 19वीं शताब्दी से "क्रूर विजेताओं के युग" के बाद यहाँ "तानाशाहों का युग" शुरू होता है। ये क्रान्तिकारी कॉडिलो (तानाशाह) नेता क्रिआलो वर्ग के थे, बुद्धिजीवी व्यक्तिवादी तथा महत्वाकांक्षी थे और शुद्ध स्पेनियों को अपदस्थ कर स्वयं प्रतिष्ठित होना चाहते थे। विचारों में क्रान्तिकारी किन्तु व्यवहार में ये उग्र तानाशाह थे। इनके नेताओं (सुक्रे, पाएज, साइमन बोलिवर, सान मार्टिन, हिडाल्मी और गुएरेंरो जैस) को फ्रांस की क्रान्ति और सं.रा. अमरीका के स्वतन्त्रता-संग्राम से प्रेरणा मिली थी, इन्होंने उपनिवेश कायम रखने वाले राजभक्तों से संघर्ष किया। अनेक असफलताओं, देश निकाला, पराजय तथा हानियों के बाद सन् 1815 तक इनकी सामाजिक शक्ति विकसित हो चुकी थी। यूरोप के नेपोलियनीय युद्धों और आंग्ल-अमरीकी युद्धों के समाप्त हो जाने के कारण इनको विदेशों से जलपोत, मुद्रा तथा हथियार आदि मिल सके। इन संघर्षों में अर्जेन्टीना का सान मार्टिन (1778-1850) और वेनेजुएला का क्रान्तिकारी साइमन बोलिवर (1783-1830) ने बहुत बड़ा कार्य किया और स्वतन्त्रता दिलाने में वे काफ़ी दूर तक सफल भी हुए। बोलिवर के साथ उसके सेनापति सुक्रे का भी महत्त्व है। बोलिवर ने अथक परिश्रम तथा उत्साह से स्पेनी अमरीका के देशों को स्वाधीन कर गणतंत्र स्थापित करने की चेष्टा की। पर साथ-साथ ही इन गणतंत्रों में अव्यवस्था शुरू हो गयी थी। इन रोमैण्टिक योद्धाओं का अन्त अपनी सफलताओं के बीच निराशामय रहा। मार्टिन लीमा को प्रतिक्रान्ति से निराश होकर यूरोप के निर्वासन में मरा और बोलिवर भी मरते समय चारों ओर की अव्यवस्था से निराश था। उसने

दिग्भ्रान्त होकर कहा था- “अमरीका पर शासन नहीं हो सकता, जो यहाँ क्रान्ति साधना करता है वह मानो समुद्र में हल जोतता है।” वास्तव में इसका कारण उनकी प्रकृति में था। नये जन्मे स्पेनी गणतंत्रों को सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार तथा सुशिक्षित सेना की ज़रूरत थी। काङ्गिलो प्रशासन की व्यावहारिक समस्याओं से अनभिज्ञ और सत्ताधारी वर्ग तंत्रजालों को समझने में अक्षम थे। जैसा कहा गया है कि वे रोमैण्टिक, साहसिक तथा भावुक दृष्टिकोण रखते थे और उनकी महत्वाकांक्षा भी व्यक्तिवादी थी। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता को आर्थिक स्वतंत्रता के दायरे तक विस्तार नहीं किया। परन्तु उससे इतना तो हुआ कि लातिन अमरीका का मौजूदा गणतंत्रों का नक्शा लगभग मुकम्मिल हो चुका था।

लातिन अमरीका में बोलिवर की सफलता, असफलता और निराधार की परिस्थिति देखने पर आज के भारत का चित्र-बार बार सामने उभरने लगता है। वह अमरीका को मुक्ति दे सका स्थिर सरकारें नहीं। जनता अपार मूढ़ता तथा दरिद्रता का शिकार थी, समाज विभिन्न जातियों में विघटित था, वर्गों के प्रबल स्वार्थ थे, विदेशी ख़तरे मौजूद थे, नये राष्ट्रों के सीमा निर्धारण की समस्या थी, नेतृत्व को लेकर वर्गों में षड्यंत्र चलते थे, अन्दरूनी स्वार्थ फ़ौज विद्रोह के लिए उकसाते थे और महत्वाकांक्षी फ़ौजी गुट राजनीतिक मकसदों के लिए सेना का इस्तेमाल करने को तैयार थे। बोलिवर ने स्वयं स्वीकार किया- “स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कभी हुए ही नहीं, सरकार गैर वफ़ादार अयोग्य तथा अनैतिक लोगों के हाथ में चली गयी।” भेदभाव इतना बढ़ गया कि प्रत्येक गाँव, प्रान्त स्वायत्त होने की तैयारी करने लगा। जनता भ्रान्तियों को यथार्थ समझती थी और समाज कुरीति, मूढ़ता तथा क्रूर तानाशाही के तीन विकारों का शिकार थी। इस यथार्थ स्थिति की टकराहट से बोलिवर स्वयं क्रूर तानाशाही की ओर बढ़ा और काङ्गिलो (तानाशाह) की संस्था का सूत्रधार बन गया। वस्तुतः इन रोमैण्टिक

योद्धाओं की निराशाओं के मूल में स्वतंत्रता-संग्राम को जन-आंदोलन का रूप न दे पाना था। इस विद्रोही वर्ग का संगठन ऐसे समाज से हुआ था- शुद्ध स्पेनियों से यहाँ जन्में स्पेनियों के संघर्ष का मूल रूप ऐसा होना ही था। इन क्रिआलो तानाशाहों में कुछ बड़े भूस्वामियों के बीच से, कुछ धनी व्यापारियों के बीच से उठे थे, हाँ! उनके साथ कुछ गरीब बुद्धिजीवी ज़रूर थे। इससे इतना हुआ कि इनके जागरण ने महान् स्पेनी साम्राज्य को “एल-डोराडो” धूल में मिला दिया और सत्रह गणतंत्रों की स्थापना संभव हो सकी।

कैरिबियन गोलाद्ध के कुछ द्वीपों की मुक्ति-कहानी इसी तरह है। “न्यूस्पेन” में शुद्ध स्पेनियों के खिलाफ़ संघर्ष का नेतृत्व पादरी मिग्वेल हिडाल्गो ने किया, वह कुचले हुए लोगों के साथ था। इसके कार्य को जोस मारिया मोरिलोस ने पूरा किया। सन् 1814 में मैक्सिको ने पहला संविधान लागू किया। इस संघर्ष में हिडाल्गो को सूली पर चढ़ना पड़ा और मोरिलोस को गोली खानी पड़ी। पर गुएर्रेरे नामक गुरिल्ला ने संघर्ष जारी रखा। अन्ततः 1820 में मैक्सिको में धनवान अनुदारवादियों और उच्चतर चर्च के अधिकारियों ने गठबंधन करके क्रियोलो वर्ग से सुलह कर ली। और तभी से यहाँ “आज़ाद मैक्सिको” की नींव पड़ी। पर काङ्गिलाओं (तानाशाहों) का यह युग यहाँ भी समान रूप से अस्थिरता का युग रहा है। विदेशी हस्तक्षेप बढ़ते गये और सं.रा. अमेरिका ने मैक्सिको से टेक्साज़, नया मैक्सिक, नेवादा, उटा, कालोरोडो तथा कैलिफ़ोर्निया को अपने राज्यों में मिला लिया। हिडाल्गो से आज मैक्सिकन योजनाओं की प्रधान समस्या उत्पीड़न से मुक्ति और सामाजिक सुधार रही है। सांता एन्ना छः बार राष्ट्रपति होने के बाद जब 1855 में निर्वासित हुआ तो लिबरल जुआरेज ने अपने सामने दो मक़सद रखे- फ़ौज और चर्च को सिविल सत्ता के अधीन करना तथा भूस्वामी वर्ग की ताक़त कम करना। परन्तु हुआ क्या? चर्च से छीनी हुई ज़मीनों पर स्पेनी वंशधरों ने कब्ज़ा कर लिया और

इंडियन पुनः वैसे ही रह गये। अन्ततः अनुदारवादी, फौजी अफसरों और चर्चा ने गठबंधन करके उदारवादी जुआरेज़ को उखाड़ फेंका। इस अन्तर्द्वन्द्व और राजनीतिक संघर्ष में जुआरेज़ स्वयं तानाशाह बन गया।

समस्त अमरीका (लै.) में इस युग की स्थिति प्रायः समान रही। सभी गणतंत्रों का विकास काडिलो (तानाशाहों) के द्वारा अग्रसर हो रहा था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इन तानाशाहों की ही प्रधानता रही। अर्जेंटीना में केन्द्रवादियों (ब्यूनस एरीज के लोगों) और संवादियों (मैदान के लोगों) में संघर्ष चलता रहा। 1829 में फेडरलवादी जुआन मेलुएल रोसास की तानाशाही यहाँ कायम हो चुकी थी, जिससे जासूसों, गुप्तचरों की सहायता से दुश्मनों की बर्बर हत्याएं की। पर 1852 में भयंकर संघर्ष के बाद उसे स्पेनी अमरीका की नियति भोगनी पड़ी। 1880 में यहाँ केन्द्रवादी विजयी हुए और संविधान काडिलों को सुविधाओं और शक्ति स्थापना को साधना पड़ा। किसानों और कुलीनों के बीच संघर्ष जारी रहा। इस युग के स्वाधीनता संघर्ष में तूसें ल ओवर्चर जैसे मुक्ति के लिए संघर्ष जारी रहा। इस युग के स्वाधीनता संघर्ष में तूसें ल ओवर्चर जैसे मुक्ति के लिए संघर्षरत नीग्रो गुलाम भी दिखाई देते हैं, इसने फ्रेंच साम्राज्य खत्म कर "हेटो" का नीग्रो राज्य स्थापित किया। यह लह प्रकाश रेखा है जो वास्तव में आज के अफ्रीकी तथा द. अमरीका को यूरोपीय जातियों तथा संस्कृतियों से पददलित जातियों की महत्वाकांक्षा और स्वाधीनता की चेतना की प्रतीक मानी जा सकती है। हैती द्वीप में स्पेनी संस्कृति के बजाय अफ्रीकी नीग्रों संस्कृति का विकास हुआ। परन्तु जिस परिस्थितियों में यह प्रयास किया गया उसमें हैती का फ़ौजीकरण आवश्यक हो उठा था, अतः नागरिक शासन यहाँ हिंसा तथा अस्थिरता से क्षत-विक्षत रहा है। हैती के दूसरी ओर डोमिकन में स्थिति इससे भिन्न नहीं थी। अपेक्षाकृत काफी समय तक क्यूबा आजाद नहीं हो सका, ब्रिटेन,

फ़्रांस और सं. रा. अमरीका के हितों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के चक्र में यह फँसा हुआ था। अन्त में यहाँ नयी तकनीक से संघर्ष किया गया, विद्रोही पास-की मूल भूमि अमरीका जाकर सेना, धन, शस्त्र आदि इकट्ठा करके हमला करते थे। जोसे मार्टी (1853-95) ने 1895 में अपने जत्थे के साथ क्यूबा में संघर्ष शुरू किया और 1898 में आजाद किया। बेनेजुएला में गुजमान ब्लांको ने उन्नीस साल (1870-89) अपने लौह शासन को कायम रखा, फिर सिप्रियानो कास्त्रों का नृशंस शासन शुरू होता है। कोलम्बिया में 1849 में सैन्यवाद, रेडिकलवाद और संघवाद की अराजकता फैल गयी और 1880 तक यही स्थिति बनी रही। चिली में भी अनेक क्रान्तियाँ हुई, राष्ट्रपति फ़ौज के कठपुतली रहे उदारवादी तथा रेडिकलों के बीच काफ़ी संघर्ष रहा।

ऊपर के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि इन तथाकथित स्वाधीनता के युद्धों तथा संघर्षों में शुद्ध स्पेनी लोगों के खिलाफ लातिन अमरीका में जन्मे स्पेनी लोगों का विद्रोह और क्रिओलो-समूहों (यहाँ जन्मे स्पेनी समूहों) को आपसी प्रतिद्वन्द्विता प्रधान थी। इसको विदेशी नियंत्रण के खिलाफ़ लोक जनो के युद्ध नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इनमें राजनीतिक मूल्यों के बजाय फ़ौजी विशेषताएँ अधिक गौरव पा सकीं। परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों में आर्थिक बरबादियाँ तथा अराजकता फैली, सामाजिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था भी फैलायी गयी। काडिलो रोमैंटिक उदार भावना से प्रारम्भ में प्रेरित थे, पर उनके क्रान्तिकारी कदम उठाते ही अनुदारतावादी, जमींदार और फ़ौज सम्मिलित रूप से उनके खिलाफ हो जाते थे। अतः या तो वे शक्तिहीन, निष्कासित और मृत्यु से दण्डित हुए, अथवा उन्हें जमींदारों, व्यापारियों तथा सेनाओं के हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए क्रूर तानाशाह बनना पड़ा। इस स्थिति में न मध्य वर्ग विकसित हो सका और न अधिक वर्ग गुलामी से मुक्त हो पाया। अतः इन गणतंत्रों में वास्तविक प्रजातंत्र

का विकास सम्भव नहीं हो सका। केवल उदारतावाद और अनुदारतावाद का संघर्ष प्रमुख रहा।

सन् 1950 के लगभग स्पेनी अमरीका का आर्थिक रूपान्तर भी शुरू हो गया था। बहुत बड़ी समस्या थी कि इस विशाल भूमि को भारी जमींदारियों से मुक्त कर किस प्रकार खेतिहरों को बाँटा जाय। एक और फ़ौज, ज़मींदार वर्ग तथा व्यापारियों का संगठन था, दूसरी ओर रेडिकलों तथा किसानों की असंगठित उत्पीड़ित आबादी। बड़े भूस्वामी नक़द फसलों में रुचि लेते थे, जिसके खाद्यान्नों का आयात बढ़ता गया। रेल आदि वैज्ञानिक उपकरणों से यह स्थिति भी बढ़ी। जमींदारों का अधिकार बना रहा, खाद्यान्नों की समस्या बढ़ती गयी, विदेशी पूँजी की सहायता से देशी पूँजीपति देश का शोषण करते रहे। इस प्रकार स्पेनी साम्राज्य के समाप्त होते-होते सं.रा. अमरीका ने लातिन अमरीका पर आर्थिक साम्राज्य थोप दिया। इसके आर्थिक तथा राजनीतिक कारण रहे हैं। 1990 तक सं.रा. अमरीका में पूँजी तथा अन्य साधनों का पूरा विकास हो चुका था, उसका उद्योग इतना बढ़ चुका था कि उसे विदेशी मंडियों की खोज हुई। इसके लिए विदेशों में अपनी पूँजी तथा ताक़त बढ़ाने की उसने तैयारी की। ब्रिटेन से प्रतिस्पर्धा की वजह से सन् 1823 में ही “मुनरो-सिद्धान्त” बनाया जा चुका था, जिसके अन्तर्गत अमरीका लातिन अमरीका के सरकारों तथा व्यापार आदि पर अन्य यूरोपीय ताक़त को रोक सकता था। सन् 1895 में सं. रा. अमरीका का नव्य साम्राज्यवादी मिज़ाज पुनः प्रकट हुआ। उसने वेनेजुएला में ब्रिटेन की आकांक्षा को रोका, क्यूबा की चीनी प्राप्त करने के लिए जोस मार्ती की मदद की, जब वह अपने देश को स्पेन से स्वाधीन करने के लिए लड़ रहा था। इस मदद के परिणामस्वरूप “प्लाद समझौता” क्यूबा को स्वीकार करना पड़ा और वहाँ चीनी उद्योग अमरीकी नियंत्रण में रहा। अपने हितों की रक्षा के लिए कोलम्बिया से पनामा नहर का इलाक़ा छीन कर पनामा गणतंत्र गढ़ा।

मुनरो सिद्धान्त में “रूजवेल्ट पूरिका” जोड़ दी गयी। सन् 1912 में निकारागुआ में समुद्री बेड़ा आ गया और 1933 तक बना रहा।

बीसवीं सदी में यह नीति लातिन अमरीकी राष्ट्रों के साथ और खुल कर अपनायी गयी। यहाँ के सीमा-विवादों से सं. रा. अमरीका ने सबसे ज़्यादा लाभ उठाया, जल-सेना के अड्डे, कोयले के अड्डे व्यापार मार्गों पर नियंत्रण करने के लिए सं. रा. अमरीका तथा ब्रिटेन को सबसे अधिक लाभ हुआ। विदेशी शक्तियों के युद्ध पोट अक्सर तटों पर गश्त लगाते थे, बन्दरगाहों पर प्रतिबन्ध लगाते थे, शहरों और कस्बों को बमबारी से आतंकित करते थे। यह काम फ़्रांस ने भी किया। सं.रा. अमरीका ने उरुग्वे में अपनी जल सेना उतारी, अमरीकी पूँजी से बनी रेलवे की सुरक्षा के लिए पनामा में फौजें उतारीं, अपने दानों की वसूली के लिए मैक्सिको पर आक्रमण किया। इसी प्रकार इंग्लैण्ड तथा फ़्रांस ने अर्जन्टीना की नाकेबन्दी की। बन्दरगाहों पर बमबारी की। इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इन देशों की राष्ट्रीय पूँजी विदेशी पूँजी के हित समान हो गये थे और संकट के समय वे मिल जाया करती थीं।

बीसवीं सदी में हालात तेजी से बदली। एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता के ढाँचे को आर्थिक स्वतंत्रता की वास्तविक प्राणवत्ता से सम्पूर्ण करने का संकल्प बलवान हुआ, दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के युद्धों के स्थान पर स्वतंत्रता के राष्ट्रीय युद्ध छेड़े गये, तीसरी ओर श्रमिक वर्ग, किसान तथा मध्यम वर्ग के विकास के साथ-साथ समाजवादी विचारों का उन्मेष हुआ तथा चौथी और फ़िदेल कास्त्रोवाद, यांकीवाद-विरोध, द-गॉलवाद, पेरानवाद जैसी नव्य प्रवृत्तियाँ यहाँ के राष्ट्रों में परिलक्षित होने लगीं।

सन् 1900 के लगभग लातिन अमरीकी गणतंत्रों ने विदेशी मंडियों के साथ-साथ घरेलू बाज़ारों पर ध्यान देना शुरू किया। औद्योगीकरण के लिए प्राविधिक कौशल और पूँजी की ज़रूरत थी। कच्चे माल की माँग बढ़ी। लातिन अमरीका में सर्वकुशल उत्पादक

आकर बसे हुए विदेशी थे, अतः घरेलू खपत और निर्यात से लातिन-अमरीका को उलझना पड़ा। सन् 1885 में यहाँ का जो विदेशी वाणिज्य एक अरब था, 1951 ई. में 14 अरब 60 करोड़ हो गया। विदेशी मंडी पर निर्भर रहने के कारण विदेश की जरा सी तब्दीली से यहाँ के देशों में आर्थिक तबाही आ सकती थी। विदेशी पूँजी भी देश के सन्तुलन पर अधिकार रखती थी, यद्यपि यह सब देशों में एक तरह से नहीं लगी थी। बेनेजुएला में पेट्रोलियम, क्यूबा की चीनी, कोलम्बिया के तेल, ग्वाटेमाला के फल आदि की ओर विदेशी पूँजी सबसे अधिक झुकी थी। विदेशी पूँजी पर दबाव पड़ने पर तत्सम्बन्धी देश लातिन अमरीकी गणतंत्र पर दबाव डाल कर उसे झुका देते थे। अतः विदेशी पूँजीपति समानान्तर सरकारें भी चलाने लगे थे, कुछ देश पाँच) तो सं. रा. अमरीका के संरक्षित उपनिवेश के दर्जे पर पहुँच गये। इसी कारण राष्ट्रपति ट्रूमन को 1949 में घोषणा करनी पड़ी कि वे “पुराने साम्राज्यवाद” को पुनरुज्जीवित नहीं होने देंगे, उन्होंने “प्लान्ट 4” कार्य-क्रम जारी किया।

फिर भी “आर्थिक साम्राज्यवाद” का खात्मा करने के लिए “आर्थिक राष्ट्रीयतावाद” का प्रबल आन्दोलन उठ रहा है, जिसके अन्तर्गत विदेशी पूँजी नियंत्रण, स्थानीय लोग द्वारा बचत और खर्च, सतर्क आर्थिक योजना, व्यक्ति पूँजी का नियमन आदि शामिल है। अर्जेन्टीना, चिली, पेरू, मेक्सिको, कोलम्बिया, वेनेजुएला, क्यूबा आदि भारी उद्योगों की ओर भी प्रयत्नशील है। 1955 के बाद काडिलो तानाशाही संस्था के नियंत्रण ढीले पड़ने लगे हैं, क्योंकि मजदूर और मध्यम वर्ग, किसान और रेडिकल हरावल संगठन की ओर बढ़ रहे हैं। यहाँ इस समय “राष्ट्रीय अर्थतंत्र” की अनिवार्यता की वजह से नये आन्दोलन की दो दिशाएँ उभर रही हैं— (i) फ़ौजी सत्ता और विदेशी पूँजी के खिलाफ़ लड़ाई और (ii) सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के परिवर्तन के लिए “राष्ट्रीय युद्ध” यहाँ यह संघर्ष काफ़ी तेज गति से परिलक्षित होता है, अनेक

क्रान्तियाँ-प्रतिक्रान्तियाँ इस बीच हुई हैं, अनेक राष्ट्रपतियों की हत्या की गयी है— ग्वाटेमाला में 1954, 1963 में; ब्राज़ील में 1956, 1963 में; अर्जेन्टीना में 1955, 1961, 1962 में, कोलम्बिया में 1956 में; हैटी में 1956, 1958, 1963 में; हांडूरास में 1956, 1953 में; बेनेजुएला में 1959 में; क्यूबा में 1959 में; इसी अवधि में पनामा, निकारागुआ, ग्वाटेमाला, डोमिनिकन रिपब्लिक के राष्ट्रपतियों की हत्याएँ हुई। इन उथल-पुथलों में सेना काफ़ी सक्रिय रही है। सन् 1956 से 1960 के बीच अर्जेन्टीना से पेरान, पेरू से ओड्रिया, पनामा से सोमोजा, कोलम्बिया से मिनिल्ला और वेनेजुएला से जिमनेज की फ़ौजी तानाशाही खत्म हुई और दूसरी क्रायम हुई जो या तो “आर्थिक साम्राज्यवाद” की अनुचर हों या फिर भूमि सुधार (लातिन अमरीका की शाश्वत आकांक्षा) की ओर आगे बढ़ कर “आर्थिक राष्ट्रपितावाद” को मजबूत करें।

बदली हुई परिस्थितियों में तानाशाही काडिलोओं को किसानों तथा ट्रेड यूनियनों की ओर मुड़ना पड़ा, पर बहुधा विदेशी शक्ति और पूँजी ने उन्हें पथभ्रष्ट किया। विदेशी दौलत से काडिलो, अफ़सर और उनके परिवार मालामाल हो गये हैं। इस प्रकार प्रशासन भ्रष्ट हो चुके हैं। ऐसी दशा में सरकार न भारी कर लगाने में समर्थ है न एकाधिकार व्यापार तथा कृषि की शक्ति को कम करने के क़ाबिल ही है। इसलिए पूँजी-व्यय के लिए अतिरिक्त राशि बहुत कम है और ये देश कर्जदार हैं। राष्ट्रपति निष्पक्ष मतदान से नहीं धोखे से जीतते हैं। सारे लातिन अमरीका में सं. रा. अमरीका ही सबसे बड़ा पूँजी लगाने वाला है तथा उनके कच्चे माल का स्वामी देश है, इसलिए नयी राजनीतिक शक्तियाँ उभर तो आई हैं, किन्तु वे स्थायित्व नहीं पा सकी हैं, अव्यवस्था के बीच से आज भी ये गणतंत्र गुजर रहे हैं। बीसवीं सदी के तीसरे दशक से बड़े व्यापारियों तथा भूस्वामियों के स्वार्थों में टकराहट होने लगी थी, इसी बीच विदेशी पूँजी ने आर्थिक

विकास और आर्थिक पराधीनता का साथ-साथ समावेश किया, फिर भी सामाजिक उत्थान को दबाने के स्थानीय गुटों का साथ दिया जो परिवर्तन और विकास के विरोधी थे। पर संघर्ष के साथ राजनीतिक स्वतंत्रता, स्वतन्त्र चुनाव, आम शिक्षा, न्याय की समता आदि ही नहीं, बल्कि भूमि का बँटवारा, न्यूनतम मजदूरी का निश्चय, सामाजिक बीमा जैसी माँगें प्रबल हो चुकी थीं। यह भी अनुभव किया जाने लगा कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र पर विदेशियों का कब्जा ढीला किया जाए।

इस आन्दोलन को विदेशी शक्ति और पूँजी का (सं.रा. अमरीका) सामना अपने देश के निहित स्वार्थों के साथ करना पड़ रहा है। कुछ गणतंत्र इस दिशा में कुछ आगे बढ़ सके हैं और कुछ अभी विदेशी आर्थिक साम्राज्य में छटपटा रहे हैं। मैक्सिको ने उन्नति की है, अपने किसानों की माँगें पूरी की हैं, आर्थिक स्वतंत्रता के मार्ग पर तेजी से आगे बढ़ रहा है, एकदलीय राज्य होने पर भी नागरिक स्वतंत्रता यहाँ सर्वाधिक है। यहाँ के राष्ट्रपति एडाल्फो लोपेज मोतिओब्स ने मैक्सिको को अमरीका के संघर्ष में तटस्थ रखा है, समाजवादी देशों से व्यापार बढ़ाया है, द-गौल का स्वागत किया है और आज मैक्सिको का सोवियत संघ, चीन, भारत, संयुक्त अरब राज्य ने नजदीकी सम्बन्ध है। पेरू में यह संघर्ष तीव्र है। किसान धनी जमींदारों के खिलाफ़ है। आज पेरू अपने थोड़े से तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण करना चाहता है, किन्तु सं.रा. अमरीका की कम्पनियाँ इसे नामंजूर कर चुकी हैं, यह निहित स्वार्थ की लड़ाई है। बोलिविया में 1952 में "नेशनल रिवोल्यूशनरी मूवमेन्ट" के बुद्धिजीवी नेता विक्टर पाज एज्टेंसेरो ने क्रान्ति की। टीन की खदानों का राष्ट्रीयकरण, भूमि सुधार, कृषि सुधार आदि योजनाएँ बनीं। टीन के इज़ारेदारों और ज़मींदारों ने चुनाव जीतने पर एस्टेंसेरो को फ़ौजी शक्ति के साथ मिलकर सत्ता ग्रहण नहीं करने दी। पर जुआन लेचिन के नेतृत्व में खदान-मजदूरों ने फ़ौजी-जनता

को संघर्ष में हरा दिया। पाज़ ने वापस आकर राष्ट्र की बागडोर संभाली, विवश होकर सं.रा. अमरीका ने उसकी मदद की। टीन-खदानों का राष्ट्रीयकरण हो गया। पर अभी यह देश है, जहाँ अपार गरीबी है। यहाँ जबर्दस्त कम्युनिस्ट आन्दोलन है और (अब) विद्रोह उपराष्ट्रपति लेचिन कम्युनिस्ट शासित ट्रेड-यूनियों के द्वारा सक्रिय है।

ग्वाटेमाला में सन् 1950 में जेकोबो आर्बेन्ज राष्ट्रपति हुआ। जब यहाँ भूमि-सुधार की ओर कदम बढ़ाया गया तो सं.रा. अमरीका को अपने आर्थिक हितों पर खतरा नज़र आया और उसने सोवियत पिछलग्गू होने का आरोप लगाया। दुरभिसन्धि द्वारा दक्षिणपंथी तानाशाही के अधिकार में देश की सत्ता आ गयी। कम्युनिस्टों ने आर्बेन्ज की सहायता की, पर उसकी हत्या की गयी। 1963 में राष्ट्रपति मिग्वेल फ़्यूअंरीज को भी फ़ौजी विद्रोह ने अपदस्थ किया, साफ़ था इसके पीछे विदेशी शक्ति थी, क्योंकि भय था कि अगले चुनाव में कम्युनिस्ट शक्ति में आ सकते हैं। सं.रा.अ. ने इस "नयी जुनता" को स्वीकृति भी दे दी। कोलम्बिया के पिछले सोलह सालों से चलने वाले युद्ध में दो लाख लोगों की मौत हुई है। यहाँ किसानों ने गुरिल्ला युद्ध की तरकीबों को अपना लिया है। इनका नेतृत्व कम्युनिस्ट जनरल मारीन मारुलान्दा कर रहा है। यहाँ भी सं.रा. अमरीका की सेना को विशेष टुकड़ियाँ सलाह देने के लिए मौजूद हैं। यद्यपि चिली में 1938 में पापुलर फ्रन्ट था जिसमें बिरल, रेडिकल, सोशलिस्ट तथा कम्युनिस्ट सभी थे। इसने उद्योगों को बढ़ाया। पर यहाँ पुनः दक्षिणपंथियों का अधिकार हो गया है, अब तक आर्तुरो अलेस्सांणे राष्ट्रपति था जो 1920 की अपेक्षा इधर अधिक अनुदारतावादी हो गया था। सन् 1964 के चुनाव में क्रिश्चियन डिमोक्रेट राष्ट्रपति चुना गया है, पर यहाँ कम्युनिस्टों को 30% मतदाओं का ठोस समर्थन प्राप्त है। अर्जेन्टीना में सन् 1916 में हिपोलितो इरिगोयने नामक पहला रेडिकल राष्ट्रपति मध्य वर्ग तथा गरीबों

के मतों से चुना गया, पर वह उसके लिए कुछ भी न कर सका। फिर फ़ौजी क्रान्ति ने पुनः अनुदारतावादियों को सत्ता दे दी। किन्तु शहरी मज़दूर वर्ग एक शक्तिमान नेतृत्व की खोज में है। जुआन डी. पेरेन ने ट्रेडयूनियन, राष्ट्रीयकरण, औद्योगीकरण के आदर्श पर नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। वह 1943 में गृह-मंत्री बना और मज़दूरों की भलाई के कानून बनाये। 1945 में उसकी ताक़त से डर कर उसे कैद कर लिया गया, पर मज़दूरों ने उसे प्रदर्शन कर छोड़ा लिया। 1946 में उसकी पार्टी राष्ट्रीयकरण की घोषणा के आधार पर भारी बहुमत से जीती। पेरेन राष्ट्रपति बने, उसने ज़मींदारों की शक्ति और एकाधिकार को समाप्त कर दिया। उसने जनता के स्वप्नों को पकड़ लिया, पर देश की हालातों पर वह काबू न पा सका। फ़ौजी विद्रोह ने उसे निर्वासित किया और फ़ौजी दक्षिणपंथियों के हाथ सत्ता आ गयी और उन्होंने सब जगहों से पेरेनवादियों को हटा दिया। 1958 में चुनाव के बाद आर्तुरो फ़्रोडिज़ी राष्ट्रपति हुआ, उसने मज़दूरी में वृद्धि की और राजनीतिक कैदियों को छोड़ दिया, फ़ौजी नेताओं ने इसका विरोध किया। 1962 के चुनाव में पुनः पेरेनवादी भारी बहुमत से जीते। भयभीत फ़ौज ने चुनाव के नतीजों को ही रद्द कर दिया और फ़्रांडिज़ी को अपदस्थ किया। वास्तव में यहाँ की राजनीति में दौलत वाले पशुओं के सम्राटों, भूस्वामियों के साथ विदेशी स्वार्थों का भारी हाथ है, जिसके कारण सामाजिक-आर्थिक क्रान्तियाँ असफल हो रही हैं।

ब्राज़ील सन् 1930 तक अनुदारतावादियों तथा फ़ौजी गुटों के गठबन्धन से आतंकित रहा, फ़ौज शक्तिशाली होती गयी। देश की सारी फ़ौज जलमार्गों, समुद्र, अमेज़न आदि खुले रखने की चौकसी में लगी थी। सन् 1930 में उदारतावादी गुटवियों ने फ़ौज की सहायता से बागडोर सँभाली और सन् 1945 तक शासन किया। उसने श्रमिकों का हित साधा और सं. रा. अ. से ऋण लेकर भारी उद्योगों का विकास किया। बाद में तानाशाह होता गया, आर्थिक समस्याओं को

सँभालने में असफल रहा। निराशा के कारण उसने सन् 1954 में आत्महत्या कर ली, अन्तिम वसीयत में उसने 'अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र' को ब्राज़ील की पराधीनता का जिम्मेदार ठहराया। राष्ट्रपति कुबित्श्चेक ने (सन् 1961 में) सं. रा. अमरीका की आर्थिक पराधीनता से उबरना चाहा, पर फ़ौज ने उसका तख्ता पलट दिया। और फ़िलहाल सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का आन्दोलन ठंडा पड़ गया। गुलार्ट की सरकार के पतन के बाद कास्टेल्लो बेन्सी की सरकार सं. रा. अमरीका ऋण के सहारे चल रही है और यह उस संघर्ष की विडम्बना है।

क्यूबा पर सं. रा. अमरीका की पूँजी और बाज़ार का कब्ज़ा रहा है (चीनी उद्योग)। सन् 1925 में गेरार्दो माचादो यहाँ का तानाशाह बना, फिर उसको हटा कर उससे भयंकर तानाशाह फुलजेंसियों बेटिस्टा आया। लेकिन क्यूबा में फिदेल कास्त्रो के रूप में एक ऐसा व्यक्तित्व उभरा जिसने साइमन बोलिवर के बाद सारे लातिन अमरीका की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को थर्रा दिया है। उसने गुरुल्ला के सहारे 1958 में बेटिस्टा को उखाड़ फेंका। सबसे पहले व्यापार-हितों से सभी गणतंत्रों की भाँति यहाँ भी टक्कर लेनी पड़ी। कास्त्रो सरकार ने क्रान्तिकारी क़दम उठाया, उसने सं. रा. अमरीका की पूँजी जप्त कर ली, जिससे क्यूबा के पूँजीपतियों के स्वार्थ पर भी चोट लगी। यहाँ के क्रान्तिकारी नेताओं ने समझ लिया था कि पूँजीवाद को समाप्त किये बिना जनता की स्वतंत्रता क़ायम नहीं रह सकती। अतः कास्त्रो को रूस से फ़ौजी तथा तकनीकी सहायता दी। अमरीका (सं. रा.) से उससे संघर्ष बढ़ गया, उसे सोवियत की कठपुतली कहा गया और उसने क्यूबाई मार्क्सवाद-लेनिनवाद अपना कर उसका जवाब दिया। इस विरोध-तनाव के कई रूप और परिणाम गत वर्षों में सामने आये हैं, एक स्तर पर रूस और सं. रा. अमरीका की टक्कर होते-बोते बच गयी - दोनों थोड़ा झुक गये। परन्तु लातिन अमरीका की गरीब, पिछड़ी और पददलित जनता के

सामने कास्त्रो उनकी महत्वाकांक्षाओं के स्वप्न रूप में आज भी वर्तमान है। ब्रिटिश गयाना, कोलम्बिया, ग्वाटेमाला, ब्राज़ील, चिली, वेनेजुएला, परागुए, उरुग्वे आदि में कास्त्रोवाद का प्रभाव काफ़ी गहरा होता गया है और उससे सं. रा. अ. बेहद चिन्तित और परेशान है। कास्त्रोवाद और यांकिवाद-विरोध एकधर्मी हो रहे हैं, अमरीका (सं. रा.) के लिए यह सहन कर पाना कठिन है। कास्त्रोवाद के साथ लातिन अमरीका को तटस्थ बनाने में “द-गॉलवाद” भी तेज़ी से उभर रहा है। इस तरह आधुनिक परिवेश में कास्त्रोवाद, अ-यांकीवाद एवं द-गॉलवाद, तीनों का असर है। साथ ही गणलोकतंत्रीय चीन का राष्ट्रीय स्वतंत्रता-युद्धों वाला और गुरिल्ला-तरकीबों वाला दर्शन भी लातिन अमरीका को बहुत प्रभावित कर रहा है।

आज “मुनरो-रूजवेल्ट सिद्धान्त” यहाँ के सन्दर्भ में असफल हो चुका है। सं.रा. अमरीका अब नये ऋणों से यहाँ के गणतंत्रों की सहायता करके अपने प्रभाव क्षेत्र में रखने का प्रयत्न कर रहा है। 1956-60 में सं. रा. अ. ने विनियम डालर से “इंटर अमरीका डेवलपमेन्ट बैंक” की स्थापना की जिससे लम्बी अवधि वाले ऋण दिये गये और सन् 1961 में केनेडी ने “प्रगति के लिए सहयोग” की योजना भी लागू की। ये दोनों योजनाएँ लड़खड़ाते तानाशाहों और डगमगाती हुई सरकारों को “स्थिरता” प्रदान करने की असफल कोशिश कर रही है। इधर लातिन अमरीकी ज़मींदार तथा उद्योगपति अपनी आमदनी के हिस्सा से कर देने को तैयार नहीं है, न ही कृषि-सुधारों में सहायता करने के इच्छुक! सं. रा. अ. के सहयोग से अमरीकी राज्य संगठन (O.A.S.) कायम हुआ है, जिसका उद्देश्य पश्चिमी गोलार्द्ध में सं. रा. अ. के अलावा अन्य किसी भी शक्ति के हस्तक्षेप को रोकना है। इस संगठन ने पनामा-संकट में तथा क्यूबा पर आर्थिक-राजनीतिक प्रतिबन्ध लगाने में पहल की है। केवल मैक्सिको ने अपनी तटस्थता और स्वतंत्रता को कायम रखा है, पर राष्ट्रों की स्थिति ऐसी नहीं है।

आज ऊपर की परिस्थितियों के प्रकाश में साफ़ देखा जा सकता है कि इन गणतंत्रों में राष्ट्रीयता तथा समाजवाद के नारे साफ़ उभर आये हैं, वहाँ ध्रुवांतीकरण (Polarization) तथा रवाकरण (Crystalization) की प्रक्रियाएँ तेज़ी से राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों को एक रूप देने को अग्रसर हैं। यहाँ अभी संघर्ष और क्रान्तियाँ होनी शेष हैं जिनसे नया नक्शा रूप ग्रहण करेगा। यहाँ कि आबादी शहरी हो रही है, लगभग 45% है। संसार के चार बड़े शहर यहाँ हैं— ब्यूनस, एयरीज़, मेक्सिको सिटी, साओ पोलो और रिओ डि जेनियरो। सारे महाद्वीप में एक ही जादू है— भूमि-सुधार! किन्तु जमींदार, व्यापारी, सेना, विदेशी स्वार्थों के कारण इस दिशा में कोई भी निश्चित प्रगति नहीं हो सकी है। सेना राजनीति के खेल खेलती रही है। अभी तक कुछ लातिन अमरीकी सरकारें दक्षिणपंथी, थोड़ी बहुत उदार और मध्यमवर्गीय चरित्र वाली हैं। कई गणतंत्रों में तानाशाही का खात्मा ज़रूर हो चुका है। आज के लातिन अमरीकी देश सं. रा. अ. के प्रजातांत्रिक संविधान, फ़्रांसीसी क्रान्ति के उदार-विचारों, सोवियत संघ के आर्थिक पुनर्निर्माण, भारत के तटस्थतावाद और शान्ति एवं गणलोकतंत्रीय चीन के प्रयोगशील अर्थ- “स्वायत्त” से बेहद अनुप्राणित हैं। पर एशिया और अफ़्रीका के देशों के समान इनके सामने भी सबसे बड़ा सवाल है। अपने व्यक्तित्व की स्वाधीनता तथा उसके निर्माण की। विदेशी शक्तियों के प्रभाव से—यह प्रभाव राजनीति, अर्थतंत्र, कूटनीति के साथ सांस्कृतिक भी है— मुक्त होकर अपने मार्ग को प्रशस्त करना इसकी सबसे प्रमुख समस्या है। यह तभी सम्भव होगा जब इन राष्ट्रों में अनेक जाति, वर्ण और वर्गों का सामूहिक संगठित विकास सम्भव हो सकेगा। वस्तुतः अफ़्रीका और लातिन अमरीका भविष्य के सांस्कृतिक संचरण की भूमिका अदा करने के लिए तैयारी कर रहे हैं, मानवता का अगला भविष्य उन्हीं के हाथ में है।

(क ख ग, अंक-8, 1965 से)

एक एंथ्रोपोलॉजिकीय कहानी का चक्रचिह्न : रांगेय राघव जी की 'गदल'

– रमेश कुंतल मेघ

मुक्तांचल, अंक-5, जुलाई-सितम्बर 2015

'गदल' तो सन् 60 से पूर्ववर्ती संकल्प में क्यों शामिल किया जाना चाहिए; किबां अब तो अधिष्ठापित भी किया जाता है— 'उसने कहा था', 'भेड़िए', 'आकाशदीप', 'कफ़न' व 'तीसरी कसम उर्फ़ मारे गए गुल्फ़ाम' की श्रेणी में? सन् 1915 से सिखी-प्रजातीयता से यह दिशा चंद्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा शुरू हुई थी। 'गदल' (1955) में गुर्जरों का एक कबीलाई समाज है जिसमें राजस्थानी परिवेश में प्रेम की कई पतों वाली पूर्वाधुनिकता है। इसकी पहला सही परख शिवदान सिंह चौहान ने की थी।

हम सन् 1955 में लिखी गई गदल को विशाल कबीलाई व आंचलिक फलकनुमा उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' (1957) का पूर्वाभ्यास मानते हैं। तदपि सामंतीय तथा पूँजीवादी उत्पीड़न का खौफनाक एवं बर्बर पक्ष विशेष रूप से दो तीन थीमेटिक शब्दों (कुलच्छनी, कुलबोरनी, जगहँसाई) में, एवं उपनिवेशी व्यवस्था के भी अंतर्गत कानून और इंसाफ़ (दरोगा द्वारा रिश्त लेना, पुलिस द्वारा छोटी-सी स्थिति में बेसब्री से गोलियाँ दागना) के ढोल की पोल द्वारा चक्रचिह्नित होती है। टुक मानें तो प्रमुख नायिका गदल आधुनिक नारी सशक्तिकरण की तेजस्विनी तथा नारी-स्वभिमान की गुरिल्ला लड़ैतिनी के रूप में समसामयिक भी हो जाती है। यही उसकी सार्थकता का प्रखर ध्रुवांत है...। बकलम लेखक "गदल उस बाह्य का ही चित्रण नहीं है। उसमें एक स्त्री का हृदय बोलता है। मैं भावपक्ष का अनुरागी हूँ; मनुष्य ढूँढता हूँ।... चरित्र को व्यवस्था में से ऊपर लाने का पक्षपाती हूँ।" अतः 'गदल' की गदल एक आदिम गज़ल है।

गदल पैतालीस साल की विधवा है। उसके बेटों में बड़ा निहाल तथा छोटा नरायन है। पचास साल

का डोड़ी गूजर को अब उसने अपना मान लिया। अब उसका (घर में) कौन है? डोड़ी की बहू बच्चे मर गए हैं। वह भी अकेला रह रहा है। वह भौजाई गदल के सहारे है। वह भौजाई गदल के सहारे रह गया। सो ब्याब नहीं किया। उसने पत निभाई।

कथा में नाते-रिश्तेदारी की ढीलन-ढीली बुलाई वाला खाना बदोशी गुजरों का एक कबीला है जिसकी खारी और लौहरों की उप-शाखाएँ हैं। इसमें अमूमन तेल पिलाई लाठियों के जोर से दुल्हनियाँ लाई-लौटाई-बुलाई जाती हैं।

सो अब गदल को किसी की भी परवाह नहीं है। वह अपने लड़कों-बहुओं की गुलामी नहीं करेगी। अतः वह पेट पालने के लिए पराई ज्योढ़ी लाँघती है और लौहारे गूजर मौनी के यहाँ बैठ जाती है। मौना रडुवा (दूसरा) है। इस तरह विधवा गदल, मृतक (पहला) पति मुन्ना, रडुवा (दूसरा) पति मौनी, देवर डाड़ी और बड़ा बेटा निहाल- ये पाँच पूरा सीनेरियों अभिनीत करते हैं। निहाल अपनी अम्मा गदल को कुलच्छनी कुलबोरनी मानकर धिक्कारता है जिससे जगहँसाई हुई है। इस तरह कबीलाई, सामंतीय, उपनिवेशी ये तीनों सामाजिक सिस्टम गुत्थम-गुत्थ होकर कहानी को एंथ्रोपोलाजीय-समाजशास्त्रीय दस्तावेज बना देते हैं। देह के माध्यम से सटीक नृतात्त्विक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि यहां देह भी पवित्रतावादी नैतिकता तथा सामंतीय वंशानुगामी शील-प्रबंधों की अवधारणाएँ गैर-हाजिर हैं। फलतः कहानी की थीम में जो प्रस्फुटित होता है वह 'अस्तित्व' है, 'सारत्व' तो कम ही पल्लवित-पुष्पित होता है।

कहानी का छोटा सा फलक बेहद प्रौढ़ तथा गहरा है। रांगेय राघव के 'फील्ड वर्क' की गवाही

देता हुआ कहानी को समाजविज्ञानी दस्तावेज का प्रमाण भी बनाता है। एक ओर गदल तथा देवर डाढ़ी के अव्यक्त, निगूढ़ और आभ्यांतरिक प्रीति का महाभाव है (एक विधुर तथा विधवा के बीच) दूसरी ओर गदल तथा मौनी के बीच अपने-अपने अधिकारों तथा बराबरी का आत्मसंघर्ष छिड़ा है (एक रडुवा और विधवा के बीच)। अथवा तीसरी ओर बिरादरी के सनातन नेमों एवं प्रांत की सरकार के वक्ती कानूनों के बीच भी त्रासद संघर्ष जारी है।

सो छोटे से फलक के दो ही वर्ण हैं— 1. बिरादरी के नेम से जहाँ परिवार-धुरी में जहाँ सामंतीय पवित्रतावादी यौन नैतिकता नहीं है, इसलिए गदल का घर छोड़कर नए मर्द के पास चले जाना कर्तई अनैतिक नहीं है। 2. राज (उपनिवेशीय-पूँजीवादी) का कानून है कि डाढ़ी के अंतिम कारज में पच्चीस से ज्यादा लोग नहीं हो सकते किंतु गदल के लिए कई पंतते जीमाना भावनात्मक एवं धार्मिक कृत्य है। इसके लिए वह एक जोरदार लड़ाई तक लड़ती है और वीरगति को प्राप्त होती है।

अतः ‘गदल’ की गदल एक आदिम गजल है। गजल एक गुरिल्ला गदर है। रांगेय राघव ने ठीक ही कहा है कि ‘गदल फिर भी गदल है और गदल ही रहेगी।’

आखिर ‘गदल’ को लेकर मुड़-मुड़कर इतना संदर्शन क्यों? क्यों ‘नई कहानी’ आंदोलन ने परंपरा की परिपाटियों से निकलने का सबसे मुश्किल मोड़ खोजा और यह अनुष्ठान ‘गदल’ में मिल गया।

तो होगा यही कि जब नारी-सशक्तिकरण क्रियान्वित होगा तो वह केंद्रापसारी होगा तथा मातृसत्ताक जड़ों से प्राणरस पाएगा। ऐसे में भला पवित्रतावादी देह तथा खून की कुल मर्यादा वाले पुरुष प्रधान नियमों की भी यह कहानी— उल्लंघना करेगी ही। यह इसका, कृति का समाजवैज्ञानिक तर्कशास्त्र है। नारी क्या है? इस कहानी में इसी की पड़ताल हुई है। रिवाजों की शव-परीक्षा जो हुई है। उभरे नतीजे हैं— धुंधुवाती पात्र-मशाल गदल है। वह एक गदर है, एक गजल है। गोली लगने के बाद मरणासन्न गदल का द्रौपदी संदेश है देवर के लिए कि ‘जो एक दिन अकेला न रह सकका उसी की...’। यह अंतिम टूटा वाक्यांश का एक क्षण ही समय तथा काल को अतिक्रान्त कर जाता है। अस्तु।

अब छोटी सी बात कथा-तकनीक की भी। कहानी का उद्भव भी नाट्य से हुआ है— दृश्य तथा संदर्शन से। यहाँ वाचिक बनाम आंगिक आहार्य का द्वेद्वैक्य चालू होता है। प्रकथन के अंतर्गत निरूपण और विवरण; कार्य के अंतर्गत वृत्तांत और संवाद। जब प्रवाचक (नैरेटर) सूत्रधार बन जाता है तब पात्र और संवाद दूरगामी होते जाते हैं। प्रवाचक के विधायक होने पर स्थानिक रंग तथा वातावरण छा जाते हैं, आत्मकथात्मक तथा कहाऊ डिस्कोर्सों में। अमूमन पात्र और संवाद, प्रवाचक समायोजन होना चाहिए। रांगेय राघव ने प्रेमचंद-अमृतलाल नागर की धारा में ‘गदल’ द्वारा भी अभिनव हस्ताक्षर किये हैं। पाइंदाब्बाद्व!!

अनुवीक्षा (रिव्यू) से अनुचिंतन के उत्तर पाठ

- रमेश कुंतल मेघ

मुक्तांचल, अंक : 10, अक्टूबर-दिसम्बर-2016

चारुशिला प्रौढ़ कवियित्री नीलम जुल्का का यह पहला युक्त काव्य संग्रह है "सूर्य सारथी संग-संग" (2015) इसका नातिदीर्घ (न-अति-दीर्घ) संसार है लेकिन सहयात्रा सूर्य अर्थात् विष्णु और जगत जीवन, अथवा सूर्य-सारथी अर्थात् विष्णु-कृष्ण और उषा-नीलम के संग-संग लघु-लघु, विविध-बहुत प्रेयस-श्रेयस यात्राएँ हैं। इस तरह अब इसका समासों में बंधन कर लें- "सूर्य सारथी संग-संग।"

कवि की प्रमुख जीवन-संदृष्टि (लाइफ व्यू) आदर्शोन्मुख, आशावादी तथा दिवास्वप्नों वाली है तो कठोर यथार्थता की गलियों के बाहर की भी अनुभूति करती है: "इसके अलावा कवि का उपागम द्वित्वात्मक (बाइनरी/ड्यूएल) है जो त्रित्व (ट्रायलेक्टिव) होते-होते दम थम जाता है, या जब-तब यहाँ-वहाँ, कब-अब आदि "भोर के शंखनाद में/जब आँगन के/पेड़ तले/बिछे हर सिंगार की महक/अपनी भीनी छुअन से/हैले से/जगाती है/ तब तुम मेरे पास होते हो।".... यही बोध "थे" और "हैं" का भी बाइनरी बनाता है।... तीसरी बात कि, कवि का संबोधन आधुनिक है परंतु समकालीन आधुनिकतावादी मुहावरों से बगल काट कर जाता है। तथापि चेतना की विवशता में उनसे बारंबार जूझती भी हैं- "एक मिसाल" "उड़ते कदम (पृ. 18) की मजदूरनी है जो सिर पर पत्थर ढोती किंतु अपने बचुआ का श्रम-उपचार करती है तथापि एक दिन रोशन से संवाद का विश्वास पालती अंकागाई कर्मशीला भी है। ऐसा ही "एक दिन रोशनी से संवाद" कविता (पृ. 20) है।

सो, कवि की जीवन संदृष्टि का खुलासा करने के लिए यह समझदारी लाजिमी है। समाजशास्त्रीय

डिस्कोर्स के नजरिये से "मध्यमवर्गीय आधुनिकता" उदारता तथा संस्कारों के बीच हिचकोले खाती है। बहुधा इस वर्ग की अल्पदृष्टि (मायोपिया) होती है। इसकी मर्यादाएँ हैं तो थरथराती रहती हैं तदपि अप्रत्याशित जरूरतें मार्ग में पगडंडियाँ बना लेती है। ये छोटी-छोटी खुशियाँ, ढँके-खुले गम से भरी होती हैं। सो, उसकी खुशियों, गमों, इच्छाओं के ब्रीफकेस में हसरतों की गौरैयाएँ, कुटिल चक्रों के जुगनू, ओढ़नी के त्रासदी, खनकती पायल की मदमस्ती, दुःख की विडंबनाएँ, मन के आकाशदीप हैं। साथ ही लहर-लास्य की सघनता के मधुरता, भावुकता, दोस्ती की पंखुरियों की नूरे दुलाही तथा बालिका से सशक्त नारी होने के जाति "सैल्यूट" है। ये उनकी कविताओं में से "टंगे-चुने पंथ तथा भीड़ है। पूरे संग्रह में "नन्हीं बेटी-नन्हीं परी" आज घड़ी सुहानी आई/नन्हीं परी खुशियाँ भरपूर लाई/पाकर हिमगिरी सा गौरव/और सागर की अतल गहराई/बनना इतिहासों का सुनहरा पन्ना/यह धरती है तुम्हारी/आसमान भी है तुम्हारा।" "नन्हीं परी" का नूरानी नूर प्रदीपित है। "नूरानी नूर" (पृ. 33) एक अप्रतिम कविता है। (उक्त अंश कविताओं से ही लिये गए हैं)।

ये अंश प्रतिदर्श (नमूने) हैं प्रादर्श (मॉडल) हैं तथा आदर्शन (आइडियल) हैं। ये कविताओं में अभिराम इंद्रजाल बनते हैं- "रोशनी से संवाद" में प्रतिदर्श और आदर्श, खनकती-खनखन (पृ. 66) में प्रादर्श, वजूद (74) में आदर्श, "बाँसुरी की धुन" (पृ. 113) में तीनों गुत्थम गुत्थ है। सारे संग्रह में ये वृत्तियाँ हैं।

इसी तरह एक हाशिये में दो कविताएँ हैं जिनमें दिवास्वप्न, कल्पविश्व (यूटोपिया) तथा साहचर्यों का जमघट है। इन्हें परिष्कृत करके आधारशिली बनाने की अपार संभावनाएँ हैं— यादें (पृ. 60), अनंतरूपा होती है कविता (पृ. 25) सौंधी खुशबू (पृ. 105), विस्मय विमृग (14)।

नीलम कवयित्री ने यथार्थ के चक्रचिह्न के तौर पर भय और आतंक को भी जाता है। किंतु ये मूल प्रयोजन नहीं है। भेड़िए (पृ. 67) में मन की आंतरिक भयानकता, विसंगति “कहीं टूट न जाए वीणा के तार” (पृ. 69) में त्रासदी के पूर्व की विसंगति (भद्दी फूहड़ता) के साथ एक महाकाव्यात्मक लंबी कविता “बचनी” (पृ. 85) है। यह लेखिका को कालोत्तीर्ण कतर रही है, “बाँसुरी के धुन” के साथ-साथ।

नीलम ने प्रीत का ‘मोहन’ तथा ‘मादन’ पक्ष खोला है। उन्नतिपंथी नारी की संपूर्णता का परचन (पृ. 40), ‘सैल्यूट’ (पृ. 97), ‘एक गुड़िया की अभिलाषा’ (पृ. 80), “माँ” (पृ. 49) के माध्यम से।

नारी-धुरी की कविताएँ तो कवि की अटपटी नन्हीं बच्ची के जन्म से लेकर जन्म युवती, प्रौढ़, समान असक्त होने तक का नया अनुपालक भागवत रचती हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम इनकी बालिका पर लिखी गई सुभद्रा कुमारी चौहान की वैसी कविताओं से तालमेल कर सकते हैं। इसी अन्य हाशिये के चोरी-चोरी, चुपके-छुपके, बस उघाड़ कर चुनिंगा नमूने (प्रतिदर्श/सैंपल) ही कवि ने दिये हैं— वे उदात्तता और उमंग छलकाते हैं, मचलते हठ करते हैं— श्री मनमोहना (पृ.10), सानिध्य (पृ. 30), खनकती-खनखन (66) अथवा, कमी दर्दिली रेखाएँ भी घायल मिलती हैं— भूल भुलैया (पृ. 102), घर (पृ. 96)। तदपि भी वाह! कविताओं की ऊँची आटरियों में उनके विभोर नारीत्व-मन का यह बनभोर भी गजब अजब-सा उन्मत्त होकर नाचा है। पल, पल, हर पल, तुमक-

तुमक!!

इन दशाओं को देश-काल से जोड़ने को मिथकों की अध्येता नीलम ने मिथकीय पात्रों तथा उनकी परिस्थितियों का सटीक और सार्थक इस्तेमाल किया है— “सखियों-साक्ष्यों के तौर पर वे मसलन, “कान्हा! / जब भी मन चाहे/तुम बाँसुरी न बजाया करो/... मिट्टी की गंध हलचल मचाती है। खींचती है मुझे / उस कर्म-कुलाल की ओर / जहाँ कई / अर्ध निर्मित पात्रों की छटपटाहट / अपने रूपाकार पानो को / शोर मचातची है। तो रसमयी चिति/कई खंडों में बँट जाती है।”

कालियानाग (पृ.9), वासुदेव गांडीव (27), अभिमन्यु, सुदर्शन चक्र, भस्मासुर और फीनिक्स। इनके उपयोग-प्रयोग से अब विकल्प उपलब्ध हो जाते हैं तब तो हम फर्क कर सकते हैं, तब हम घटिया और मामूली को चुनने को विवश नहीं होते, तब हम दमन और आतंक और भय के इस्तेमाल करने वाले वर्तमान घटकों (धर्म, जात, भावनाएँ, रूढ़ियाँ, झूठी मर्यादाओं) के मुखौटे उतार फेंक सकते हैं। तब हम पुनर्नवा भी हो जाते हैं। ऐसी उलझनों से जूझने की मिसाल उक्त कविता (पृ. 109) है। अथवा, आगे भी और कहने को शेष है। नीलम की कविताओं में पुरुष का वर्चस्व नहीं है। इनमें कुचलने (सप्रेषन) की दशा नहीं है। सामाजिक नियंत्रण (रिप्रेषन) तो है। भारतीय नारीत्व की सुदृढ़ छवि है। तदपि वे भारतीय हज्जाई दबूपन से जुड़ी यौनता, देहत्व, लिंगता (जेन्डर) तथा देश के रूढ़ जड़ कानूनों से अभी पूरी लड़ाई का इंतजार करती लग रही है। उनके मनोलोक में ‘स्व’ (सेल्फ) से विचित्र संबंधता को परिभाषित कर रही है। इसीलिए उनकी प्रणयलीला की आशिकी की सूफी परंपराओं से तुलना कर सकते हैं— जहाँ “छाप तिलक सब छीन्ही/मोसे नैना मिलाई के। बलि बल जाऊँ मैं तोरे रंगरेजवा/अपनी भी रंग दीन्हीं तोसे नैना

मिलाइके।”

अब आखिरी चर्चा ‘मन’ की कर लें क्योंकि संग्रह में यह अतिव्याप्त है।

उनके मन-केंद्र में भय नहीं है। जितना अधिकाधिक विरोध-नियंत्रण होता है उतनी ही बंधनोत्तर अभिव्यंजना झिलमिलाती है। तदुपरांत मन के गूढ़ गुप्त ज्वार भाटों ने उन्हें समय के झरनों में भिगों दिया है। याद रहे कि भय अभिव्यंजना को नष्ट करता है। नीलम ने छोटी-छोटी कविताओं के चक्रचिह्न से इस समीकरण (इक्वेशन) को खत्म कर दिया है। अतएव यहाँ पाप और अपराध, क्रूरता और अमानुषता भी नहीं है। इसे नोट किया जाए। खुशियों और उत्कर्षों के जो नन्हें पल “नन्हीं परी” जैसी बिटिया देती है- वे नीलम जुल्का को नवीनता तथा निरंतर भव्यता देते हैं। सो, भय के बरक्स; मन का उत्सर्गी वर्चस्व है। यही नारीत्व में वर्यांतरित (मेटामार्फोस) हो रहा है। कवि नीलम की यह ललितोदात्त विलक्षणता है।

यहाँ सांख्य दर्शन वाला बुद्धि एवं अहंकार से उत्पन्न ‘मन’ नहीं है। यह मनोदैहिक, मनोराग-मनोयोग, मनोमुकुर आदि वाला मनस्तत्त्व है (साइकी, चिति) इसकी परिकल्पना ‘उद्गीथ (पृ. 99), यादें (पृ. 60), ओ मनोमोहना (पृ. 10) में यथेष्ट संलक्षित है।’

यह मन ही मोहन (पुरुष) तथा मादन (नारी) और उभयात्मक है। यह देह-जगत तथा तन का रूपांतरकारी है। काव्य की उक्तियों में मन लास्य नृत्य में खोया है, अर्थ की नई भंगिमा है। धवल हँसी,

सुरमय संगीत, आकाशदीप है। यह उल्लास का रसरंग (पृ.53) है। यह मुस्काता बसंत है (75) और यह (नारी की) महासृष्टि है (पृ. 110)। जैसा कि हम बता आये हैं कि यह स्वत्व या स्वयं (सेल्फ) से विचित्र संबंधता है। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि... इस संग्रह की कुछ कविताएँ सृजनधर्मिता की मील पत्थर हैं। इन्हें हम शैलीगत ‘नीलम मार्कर’ नाम दें- ओ मन मोहना (पृ. 10), सान्निध्य (पृ. 30), नूरानीनूर (पृ. 33), यादें (पृ. 60), कहीं टूट न जाएँ वीणा के तार (पृ. 69), वचनी (पृ. 89), बाँसुरी की धुन (पृ. 113)।

सो, यह संग्रह इच्छाओं, चिंतन और मनोलोक की उत्तीर्णता का दर्पण है। पुनश्चः, अब पंजाब-हरियाणा में हिंदी काव्य का भी उत्कर्ष हो रहा है- सौमित्र मोहन, कुमार विकल, बलदेव वंशी, गंगा प्रसाद बिमल, पृथ्वीराज कालिया, नरेन्द्रमोहन, माधव कौशिक, चंद्रत्रिखा, शुर्दर्शन, चंद्र भार्गव, उर्मिल सखी, कमलेश आहुजा, पुनीता बावा, शशि प्रभा, सुभाष रस्तोगी के संग सुनीता जैन, मीरा गौतम, राज शर्मा, तृप्ता सरीन, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनीता कोमल, तरुणा, नीलम जुल्का, अरुणा आदि।

पुस्तक : डॉ. नीलम जुल्का

समीक्षक : रमेश कुंतल मेघ

प्रकाशक : यूनिस्टर बुक्स, एस.सी.ओ. 26-27, सेक्टर-34ए, चंडीगढ़ - 160022,

संस्करण : 2015.

मध्यकाल : रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल

- रमेश कुंतल मेघ

मुक्तांचल, 6 अक्टूबर-दिसम्बर-2015

एक के सम्पूर्ण होने पर ही तो मध्य आयेगा। मध्य भी आदि तथा अंत- कहलें कि - आधुनिक या वर्तमान के बीच स्थित है। अतः यह काल गतिमान तथा परिवर्तनमान है; अनंत है तथा चिरंतन वर्तमान भी है।

तो महाकाल निरंतर गति तथा परिवर्तन के गुण वाला है। पृथ्वी द्वारा अपने अक्ष में सूर्य की निरंतर चिरंतन परिक्रमा करने से काल का नामकरण होता है। अर्थात् काल का प्रकल्पित विभाजन या इतिहास बनता है या कालखंड का रूप है। इस धारा प्रवाह में दिव (देश) सभ्यता तथा संस्कृति का विधान करती है। यह धर्म है। इस तरह आदि से अनंत तक नाम, रूप, गुण, धर्म का यहाँ चतुरंग है। हम बढ़ते-बदलते मध्य के कालखंड अर्थात् मध्यकाल को भी प्रायोजित करते हैं। जबकि काल तो पूर्णोत्तीर्ण होता चलता है। देश के घर का लक्ष्य, वृत्ति, वैशिष्ट्यपरक सामाजार्थिक 'सिस्टमों' की गति तथा परिवर्तन से हम काल विभाजन करते हैं। सो, दिशाएँ तथा लक्षण, प्रवृत्तियाँ ही उसे विभिन्न नाम देकर रूप-गुण-धर्म को संश्लेषित करती हैं : जैसे भारत में वैदिक युग, पुराण काल, हिंदू कालखंड, मुस्लिम कालखंड, अथवा कुषाणों का रिनांसाँ - अकबर का गंगा जमुनी रिनांसाँ - 19वीं सदी में ब्रिटिश शासन में बंगाल का आधुनिक रिनांसाँ; अथवा जनपदीय कबीलाई कालखंड ये युक्त आदिकाल, सामंत युग, पूँजीवादी युग, निवेशी कालखंड, आधुनिक समय, आदि-आदि। तदपि रोमन ईसाई कैथोलिक विश्व दृष्टिकोण में ईसा मसीह के जन्म को धुरी या कील मानकर ई.पू./ई.प. (पूर्व-पश्चात्) परक काल विभाजन किया गया। इसके उपरान्त क्रमशः इटैलियन रिनांसाँ, प्रकाश्य जागरण (इनलाइटमेंट), फ्रेंच क्रांति - औद्योगिक क्रांतियाँ, रूसी क्रांति - चीनी क्रांति के

अन्य ऐतिहासिक विभाजन के प्रस्थानक चक्र चिह्न बन गए। ऐसे में ईसा के बाद दूसरा ध्रुवांत आधुनिक यूरोपीय औद्योगिक क्रांति स्वीकृत हो गया।

सो काल विभाजन तथा नामकरण देश काल के बहुल ध्रुवांत हैं। इनके मध्य में ही विलक्षण सभ्यता-संस्कृति-इतिहास को विभाजित करके रूप-गुण-धर्म से समेकित करती है। यह अन्तर्विरोधों भरी प्रक्रिया है जो काल देश को शताब्दियों में रेखांकित करती है।

अतएव हम भारत के प्रमुख कालखंडों को लेते हैं- (ध्यातव्य हो कि सामाजार्थिक सिस्टम का तथा साहित्यिक उन्मेष के कालखंड एकान्वित नहीं है। उनकी अवधि में अंतर है।) बाद में हम मध्य काल के समग्र सदर्थ लेंगे- सामाजिक सम्यातामूलक एवं सांस्कृतिक-

ई.पू.	1000	भारत में लौह का आरंभ
ई.पू.	600	महाजनपदयुग, नृपतंत्रों का उदय
ई.पू.	563	वर्धमान तथा सिद्धार्थ का अभ्युदय बौद्ध एवं जैन मतों का आर्विभाव
ई. पू.	139-57	शकों का आगमन
ई.पू. - ई. प.		दक्षिण भारत में सातवाहन सत्ता, शैल गुफाओं तथा बौद्ध स्तूपों का निर्माण

ई.प. 144 मध्य एशियाई कुषाणों का युग : [दो राजधानियाँ (मथुरा या पुरुषपुर), मथुरा कला निकाय का प्रसुमन: बुद्ध, गंगा-यमुना, विष्णु आदि की सगुण-साकार प्रतिमानों का समारंभ, यक्षिनी-मिथकों की विविधता, 'कामसूत्र', 'नाट्यशास्त्र' का मानक स्वरूप प्रथम क्रांतिकारी रिनांसाँ]

[140 से 320 तक का अंतराल]

ई. प. 320-600 गुप्त साम्राज्य का स्वर्णयुग, वैष्णवधर्म का प्रसार, क्लासिकी युग का शुभारंभ, चंद्रगुप्त का अभ्युदय, (सिंधु-मंथन की मिथक का उद्भव, भारतीय प्रचारकों तथा व्यापारियों का एशिया में प्रसार-प्रभाव-द्वितीय क्रांतिकारी रिनांसाँ)

ई. प. 417 दिग्विजय पुत्र समुद्रगुप्त ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की पदवी प्राप्त की, चीनी यात्री फाह्यान का भ्रमण, कालिदास, अमरसिंह हुए, अजंता कला की विभावना

ई. प. 480 श्वेत हूणों द्वारा गुप्त-साम्राज्य का खात्मा तथा पंजाब कश्मीर पर कब्जा

ई. प. 600-630 दक्षिणापथ में कई नृपतंत्रों का अभ्युदय: चालुक्य (510-1198, 10-15वीं शती), (पल्लव 650-850), चोल (900-1150), पांड्य (1150-1350), होयसल (12-14वीं शती), विजयनगर (1336-1565), मदुरै (1600-1700), राष्ट्रकूट (755-973)।

(कांचीपुरम के पल्लवों ने महाबलीपुरम में शैव-वैष्णव संगम किया। चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों ने इल्युरा तथा एलिफेंटा के शिलाकाट मंदिरों का निर्माण कराया। दिग्विजयी चोल राजा राजेंद्र द्वारा साम्राज्य विस्तार। उसके समय में वास्तुकला तथा कांस्य-मूर्तियों का उत्कर्ष। विजयनगर में विरुपाक्ष की पूजा। चोलों ने 'तमिल पुनर्जागरण' को व्यापक बनाया।)

ई.प. 11-13 शती - ओडिशा के गंग तथा केसरीवंश द्वारा जगन्नाथ रथयात्रा, कोणार्क एवं पुरी के भव्य मंदिरों का निर्माण

ई. प. 10-10 शती - मध्यकाल के चंदेल वंश द्वारा खुजराहों का मंदिर समूह,

ई. प. 730-1197 - बंगदेश के पाल सम्राटच (तांत्रिक मतों का प्रभाव)

ई. प. 1001 - तुर्क तथा अफ़गान शासन की स्थापना

ई. प. 1102- पृथ्वीराज चौहान की गौरी द्वारा पराजय

ई. प. 1526 - तैमूर खानदान के बाबर का हमला। इसी कड़ी में विशाल मुगल-साम्राज्य की स्थापना। गुरुनानक ने बाबरवानी रचना की।

ई. प. 1556-1661 मुगल शहंशाह अकबर के काल में - तृतीय क्रांतिकारी रिनांसाँ, अकबर से शाहजहाँ तक का समृद्ध सशक्त शासन। (भक्तिकाल तथा रीतिकाल की सामंतयुगीन मध्यकालीन संस्कृति। भक्त कवियों, संतों, सूफियों के सृजन, फतेहपुर सीकरी, लाल किला तथा ताजमहल का निर्माण)

ई. प. 1600 इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर मंजूर तथा अन्य औपनिवेशिक यूरोपीय ताकतों द्वारा भी दखलंदाजी।

ई. प. 1675-1708 गुरु गोविंद सिंह, इस अवधि में राजस्थानी कलम और मुगल कलम का अन्योन्याश्रय।

ई. प. 1857 प्रथम भारतीय जंगे-आजादी

ई. प. 1800-1930 रीतिकाल के अंतिम महानकृति रत्नाकर, पद्माकर, भारतेंदु, गालिब

ई. प. 1860 मध्यकाल का अवसान।

इतिहास लेखन शास्त्र (हिस्टोरियोग्राफी) में तो काल निर्धारण (पीडियेडाइजेशन) की एक दुरुह समस्या है क्योंकि विभिन्न अनुसासन, विभिन्न शासन, विभिन्न आंदोलन आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न कालखंड हो जाते हैं।

इस वजह से भी हम हिंदी-चक्र में घिसी-पिटी बातों को नहीं दोहराएंगे। नाना पुस्तकों, पाठ्य इतिहासों, आलोचनाओं में उन बातों की बारंबार तोता रटंत होती आ रही है। अतः हम समाज सांस्कृतिक आयामों का ख्याल रखते हुए आंदोलनों, शासकों, प्रशासनों, लोकजीवन, महानायकों आदि के प्रस्थान, प्रतिरोध, उन्मेष, पर केन्द्रीभूत होंगे। इसलिए हमने भारतीय इतिहास के कालखंडों की यह सूची दी है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में हम शकों के आगमन (ई.पू. 13-57) के पश्चात मध्य एशियाई कुषाणों (ई.पू. 144) से मध्यकाल की अगवानी मानते हैं जब क्षत्रपी एवं कबीलाई सिस्टम, दास प्रथा तथा निर्धारित कृषकियता घुलमिल रहे थे। क्षत्रपी अभिजनीन तथा नागरीय-ग्राम्य ने सत्ता तथा संगठन के साकार ईश्वरीय तथा बौद्ध यायावरीय प्रवृत्तियों ने सामंतीय मध्यकाल का आगाज किया। कुषाणों की दो राजधानियाँ (मथुरा तथा पुरुषपुर अर्थात् पेशावर) और महायान बौद्ध वैश्विक दृष्टि से पूर्ण संघ-संगतियों ने विचारों को भी भौगोलिक प्रसारण दिया।

हम इसे प्रथम क्रांतिकारी रेनांसाँ मानते हैं। दो राजधानियाँ बनीं। काश्मीर में प्रथम बौद्ध संगति का आयोजन हुआ। मथुरा काल निकायल का प्रसुमन हुआ। लोकधारा की मुक्त नारियों-यक्षिणियों-तथा यक्षों को वन और अंचलों का दायित्व दिया गया। इसी क्रम में शिल्प चक्र में बुद्ध, गंगा-यमुना देवियों, विष्णु आदि की मूर्तियाँ लक्षणों, लांछनों से साकार होकर बनीं। इसी के साथ 'कामसूत्र' तथा 'नाट्यशास्त्र' द्वारा मानक प्रतिमान बने व प्रचलित हुए।

इस अद्भुत, अप्रत्याशित, आकस्मिक परिवर्तन को तत्कालीन भारत तत्परता से अभिग्रहीत नहीं कर पाया था। सो 140-320 तक का सुदीर्घ अंतराल पसर गया था। यह इतिहास की अनसुलझी पहेली है। यह मध्यवर्गीय (मिडिल) समय पहेली कायम है।

इसलिए कुषाणों के प्रथम क्रांतिकारी रेनांसाँ के बाद करीब तीन सौ वर्षों का अंतराल (ई.पू. 140-320) रहा। 'मध्यवर्गीय (मिडिल) समय' ?

इसके बाद सहसा एक प्रबल धमाकेदार सामाजार्थिक-राजनीतिक विस्फोट के रूप में वैशाली के गुप्तों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की जो 'गुप्तों के स्वर्णयुग' ई.पू. 320-600 के स्वरूप में जाना जाता है।

यह भारत का द्वितीय क्रांतिकारी रेनांसाँ भी है।

मौर्यों के परम भागवत गुप्त सम्राटों ने दिग्विजय करके एक विशाल भारत देश की एकैक सत्ता की पुनर्स्थापना की। उन्होंने वैष्णव धर्म का प्रसार किया। अवतारवाद की सर्वव्यापी आस्था में विष्णु-राम-कृष्ण के साथ तथागत बुद्ध भी अवतारों में शामिल हो गये। चंद्रगुप्त एक महान सम्राट थे। विराज संस्कृति का सहस्र दल कमल पूरा खिल गया। भारतीय भट्टार गुरु, महानाविक, धर्माचार्य, सेनापति, व्यवसायी आदि ने दक्षिण पूर्व एशिया में फैलकर 'वृहत्तर भारत' को स्वरूप दिया। वैभव, खुशहाली, विभिन्न कलाओं, दर्शनों आदि का उत्कर्ष हुआ। हम कह सकते हैं कि क्लासिकी युग का शुभारंभ हो गया।... इसका प्रतिकायन समुद्र मंथन की मिथक के उन्मिलन में हुआ जो सत्ता के विस्तार, संस्कृति की विविधता, नयी-नयी प्राप्ति, तथा उपलब्धियों को अभिप्रायित करती है।... इसी के प्रमाण इंडोनेशिया का बोरोबुदुर का स्तूप, कंबोडिया के अंगोकोरवाट का विष्णु-बुद्ध मंदिर, थाई देश का द्वितीय सुखो थाई अयोध्या के रूप में निर्माण आदि आज भी मौजूद है।

समुद्री यात्राओं द्वारा व्यापार तथा भूगोल के विस्तार के साथ दिग्विजयी समुद्रगुप्त ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की पदवी ग्रहण की। इसी काल में चीनी बौद्ध फाह्यान भारत आये। इसी स्वर्ण युग में कालिदास तथा अमरुशतक के रचनाकार अमर सिंह हुए। अथर्व अजंता की भी विभावना परिपूर्ण हुई। आखिर ई.पू. 480 में श्वेत हूणों द्वारा गुप्त साम्राज्य का खात्मा तथा कश्मीर पर कब्जा कर लिया गया। किंतु इस द्वितीय रेनांसाँ की बहुविध छायाएँ शताब्दियों से झिलमिलाती आ रही हैं। गुप्तों के काल में मध्यकालीन सामंतवाद जिस सिस्टम की परिपूर्णता को प्राप्त हुआ आगामी सदियों तक चालू रहा। (यह उपक्रम सम्राट हर्षवर्धन तक जारी रहा ई.पू. 900)।

अब परवर्ती इतिहास-चक्र का उक्त सूची में अवलोकन करें।

ई.पू. 1000 में तुर्कों तथा अफगानों ने हमले करके अपने शासन स्थापित किए। दो सभ्यताओं, संस्कृतियों, धर्मों, आर्थिक संबंधों, प्रशासनों आदि के बीच प्रबल संघर्षी अंतर्विरोध (कंफ्लिक्शन) प्रकट हुए। ई.पू. 1526 में तैमूर खानदान के बाहर का हमला हुआ। इससे मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। महान मुगल सम्राट अकबर के काल में तृतीय क्रांतिकारी रेनांसाँ की शुरुआत हुई। अकबर से शाहजहाँ तक एक समृद्धि सशक्त शासन चला। गंगा-जमुनी सभ्यता का आगाज हुआ।

ई.पू. 1001 से समेकित हिंदी क्षेत्र वाले उत्तरापथ में मध्यकाल का बहुल विशिष्ट, विलक्षण स्वरूप बनता चला। हिंदी साहित्य के इतिहास में इसके अन्तर्गत उसे भक्तिकाल तथा रीतिकाल कहा जाता है। इस काल में अकबर, शाहजहाँ की कोष्ठक धुरी में अभीशरण करना होगा। धुरी के अर्धव्यास में 1. चित्रकला की मुगल कलम (जो जहाँगीर के शासन में परवान चढ़ी) 2. वास्तु निर्माण के आश्चर्य, फतेहपुर सीकरी (और शाहजहाँ के काल में लाल किला तथा ताजमहल में उत्कर्ष को सिद्ध करते हैं) 3. तीसरे अर्धव्यास में एक ओर बादशाहों के 'नामा', दिनचर्याएँ (आइने-अकबरी) लिखी गई तो दूसरी ओर लोकभूमि पर सूफी फकीर शायरों के प्रेमाख्यान तथा ब्रज-अवधी के संतों भक्तों के महाकाव्य, पद, साखी, सबद आदि रचे गए। ये ही इन रेनांसाँ के त्रिकोण हैं। तथापि धुरी से हमें अवसरण करके आले दुआले भी संदर्शन करना वांछनीय है। मुख्यतया आगे प्रेम (मिलन-विरह) श्रृंगार (नखशिख-बारहमासा), घर और शयनकक्ष की चंचलताएँ बेधड़क चमकना चमत्कृत करना, चिढ़ाना शुरु करने लगती है। जिनको लंबी शिखाओं तथा भोंथरी तलवारों वालों ने 'रीतिकाल' कहकर अवमूल्यांकित कर डाला। वास्तव में यह उत्तरमध्यकाल युवक-युवतियों का सदेह और शैय्याकक्ष का भी अंतरंग, प्राइवेट, बंधनमुक्त, निर्भीक दर्पण तथा दीपक

है। कोरी रुढ़ि तथा रीति कहकर इसे खारिज करना या नकारना आज प्रतिगमन है यह घर बाहर के आवरण ढँकी दैनिक जिंदगानी का प्रेम श्रृंगार वाला ललित भागवत है। अब तो हमें इसे स्वीकारना अनिवार्यता ही होगी। ऐसे मनोहर उन्माद चित्र को रीतिकाल के पहले मानो प्रतिबंधित से हो गये थे। निर्भीक सही पकड़ तो राहुल सांस्कृत्यायन ने की है जो सामंतवाद के साथ-साथ साधारण ग्रामीणों-गृहस्थजनों को भी शामिल करते हुए उसे "सिद्ध-सामंत काल" की सही प्रसिद्धि देते हैं। ऐसे बड़े कैनवास पर मध्यकाल को अंकित करके ही हम नाथ-सिद्धों के सरहपाद, महासुखवादियों की इहलौकिक सदेह स्वर्ग प्राप्ति, लोकायतियों की सहज स्वव्यवहारिक जिंदगी का जीवन का जीवना भी शामिल करते हैं। जीवन गति भी कवित्त-सवैयाँ जैसी हो गयी।

नतीजन ऐसा मध्यकाल छठीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक व्यापक हो जाता है। मध्यकालीन मनुष्य के चिंतन तथा समाज सांस्कृतिक संबंधों में काया बनाम आत्मा, इहलोक बनाम परलोक, माया बनाम ब्रह्म (निर्गुण, सगुण) के बीच मानो एक निरंतर प्रतिद्वंद्विता छिड़ी जिसमें अमरता तथा आनंद, विकारहीनता तथा शुचिता, सत्य तथा चैतन्य चरम मूल्य हैं। इनसे सामाजिक यथार्थता का परिदृश्य चकनाचूर हो गया। उक्त परम मूल्यों के प्रतिपक्ष के दूजे आयाम भौतिक यथार्थ, दैनिक जीवन के मूल्य नश्वर, दुखपूर्ण, बंधनयुक्त, पापपूर्ण मान लिये गये। जगत मिथ्या हो गया तदपि भक्त का लोकमंगल की सिद्धि तथा साधना वाला पक्ष उसे विरोधी शक्ति भी प्रदान करता है। साथ में अवतारवाद तथा लीलागान अपनी गहराई में सामाजिक सारत्व भी उद्घाटित करते हैं— लोकचित की सामान्य भूमि पर। इससे भक्ति एक जन-आंदोलन तथा सांस्कृतिक रिनांसाँ होकर अग्रगामी हो गयी। मध्यकालीन संतों योगियों सूफियों का रहस्यवाद दस्तकारों तथा निम्नवर्गों को

जीवन का अर्थ देता है। निर्गुणियों नवोद्धारक मनावतावाद दुर्जनियों, धूर्तों, पाखंडियों, मुल्लाओं-पुरोहितों की धज्जियाँ उड़ाता है। अर्थात् सूफियों की इश्क मज़ाजी तथा इश्क हकीक्री सगुण कृष्ण धारा के महाभाव तथा महामुद्रा को एक जैसे पैरामीटर पर ले आती है। अद्भुत महामिलन की समानांतरता है।

निर्गुण संतों की प्रतिवादी धारा से पृथक एवं समानांतर मध्यकाल में महासुखवादी सरहपाद की धारा भी भौतिकवाद एवं सहज जीवन का प्रसार करती थी। इस आंदोलन में भी कई नाथों तथा सिद्धों की परंपरा भी चली। हम पीछे मुड़कर इसका संदर्श आगे करेंगे।

फिलहाल हम उत्तर-मुगल काल के साहित्य में रीतिकालीन इयत्ता (इयॉस) को लेते हैं।

समाजशास्त्रीय इतिहास लेखन-प्रकर्म में दिव्य तथा पवित्रतावादी दृष्टिकोण बेहद कठिन पहेली है। रीतिकला-संदर्श को (ऐसे में पवित्रता से) च्युति भी माना जाता रहा। फलतः वह पाप अथवा नैतिक पतन के आतंक में देहभाषाओं का खंड-खंड करती नजर आई। यही बीच का रास्ता है। शाहजहाँ से शुरु उत्तरवर्ती मुगल युग (1605-1857) के कालचक्र में एक तीली रीतिकाल (1627-1800) की है। इसे ध्यान में रखा जाय। भक्ति के पश्चात रीतिवाद (मैनरिज्म) का विस्फोट हुआ। जिससे सौन्दर्य एवं श्रृंगार और भोग परिव्याप्त से हो गये। तदपि एक महाप्रश्न सुलगता रहा कि क्या रीतिकाव्यकला अश्लील है? फिर पूर्ववर्ती 'गाथा सप्तशती', 'आर्यासप्तशती' और 'बिहारी-सतसई' का क्या करे?

वास्तव में इतिहास चिंतन में भक्ति-रीति के 'वियुक्त मिथुन' के प्राचल में इसकी अन्वीक्षा करनी चाहिए। अब सगुण ब्रह्म के अवतारों की लीलाएँ तथा मनुष्य की सुख साधक मिथुन धर्मी क्रीड़ाएँ संस्कृति के मंच पर खुलकर आ जाती हैं। इसके समर्थन में संस्कृत के काव्यशास्त्र के नकल में लक्षण ग्रंथों की

भी भरमार हो जाती है। यद्यपि महाकवि देव जैसे प्रतिभाशाली द्वितीय मम्मटाचार्य भी मिलते हैं। तदपि हमें 'शय्यारत नारी' तथा 'कर्त्तव्यशीला नारी' के ध्रुवांतों का भी गोपनीय दर्शन होने लगता है। अति गहराई में 'कुलवंती नारी' और 'नायिका' के अष्टगुण (यौवन, रूप, आभूषण, वैभव, गुण, शील, कुलीनता, शील) भी जगर मगर करते हैं। ये 'अष्टांगवती नायिका' के आठ अंग के रूप में स्वीकृत होते हैं।

तो क्या किसान संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में यह अभिजात्य प्रलोभन है? अभाव है? वस्तुतः किसानी समाज के कुल व कुटुम्ब, सदेह और मिलन-विरह की ये स्थानीय अभिव्यक्तियाँ भी हैं। इसे 'अर्धांग संस्कृति' के रूप में स्वीकार किया जाने से ही समकालीनता स्वरूपा अंगीकार कर सकेंगे। बहुधा ग्रामों से उभरे अधिकांश कविगण भी विशाल शानोशौकत वाले महलों तथा उनकी जीवन शैलियों, वैभवपूर्ण उपकरणों से ललचाते मिलते हैं। यह भक्तों संतों का प्रतिपक्ष (एंटीथिसिस) है। अतः प्रकृति क्षेत्र में भी रीति कवियों का कीर्तिमान काफी निराशाजनक रहा है। अलबत्ता घनानंद, सेनापति, पद्माकर जैसे प्रतिरोधी प्रतिभा अपवाद भी हैं। ज्यादातर कवि बारामासा, नखशिखा एवं षट्ऋतु तथा वस्त्रलंकरण में डूबे-बूड़े रहे। तदपि इस संपूर्ण काम-श्रृंगार-सौंदर्य में मर्यादा का झीना नैतिक-ओढ़ना भी रहा है जो बार-बार अचानक खुल-खिल पड़ता है। निष्कर्ष यही है कि किसी निर्गुण परिवेश में रीति काव्य तथा कला का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। सो पद्माकर, भारतेन्दु से इस काल को अलविदा कर दी गयी। सो रामानुज, रामानंद, वल्लभाचार्य के पूर्वमध्यकाल (ई.पू. 650-1150) और उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-भगवद्गीता की प्रस्थान-त्रयी भी धुंधली होती गई। अंततोगत्वा बस एक आयाम छूट रहा है- तांत्रिकों का।

तंत्र की धारा ने लोकायतिक-भौतिकवादी सहज तथा असली जिंदगानी का बेबाक बिंदास रहस्योद्घाटन

किया ई.पू. 7-8 शती में)। इसने मध्यकालीन धार्मिक, नैतिक, जातिवादी, आत्मवादी, परलोकवादी-आभिजात्य जीवन एवं चिंतन को उलट-पलट कर प्रायः तहस-नहस कर डाला। एक समानांतर योगिनी साधना में युगनद्ध महासुख द्वारा सदेह स्वर्ग पहुँचने तथा मोक्ष प्राप्त करने की सिद्धियाँ प्रवर्तित कीं। अतएव यह दक्षिणपंथी न होकर वाममार्गी हैं। जो एक साधारण मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के रूपांतरण पर विश्वास बंधाती है। अतः सुख, सृष्टि, भोग परक संभोग भी साधना का प्रमुख सही माध्यम है; किंवा कथित दमनशाही वर्जितों का गाढ़ालिंगन ही ‘चेतना’ है। अद्भुत अभ्युत्थान तो यह है कि शबर, डोम्बी जैसी शाधारणवर्गी नारियाँ भी असाधारण एवं अलौकिक (योगिनी) शक्ति हो जाती हैं।

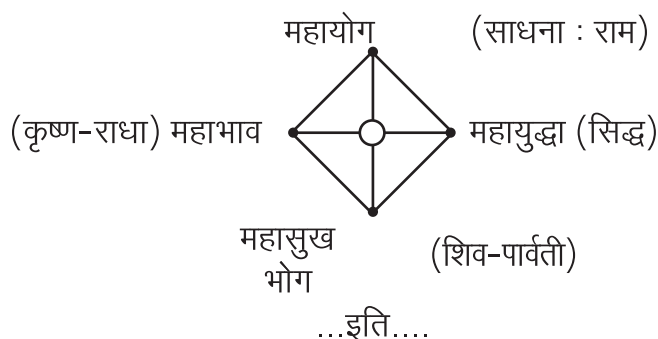
हम ऊपर बता आए हैं कि सातवीं शताब्दी ई.पू. के अंत तथा आठवीं के आरंभ में महान सिद्ध सरहपाद द्वारा प्रवर्तित ‘महामुद्रा’ एवं ‘भैरवीचक्र’ भी मनोदैहिक तथा सामाजिक रहस्यवादी व्याख्याएँ सुलग उठीं (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय)। शायद सरहपा शंकराचार्य के भी समकालीन थे उन्होंने उद्घाटन किया कि मनुष्य के भीतर भोग-आकांक्षा की ज्वाला धधकती रहती है इसलिए भोग को ही योग बना देने, शून्यता तथा करुण को मिलाकर ‘युगनद्ध’ का महासुख प्राप्त करने भैरवी चक्र में विमुक्त नारी को भव्योन्मत्त परिपूर्ण महामुद्रा बना देने से मुद्रा का तंत्र, समाज का यंत्र तथा ज्ञान का मंत्र सिद्ध होता है।

यह क्रांतदर्शी लोकायतिक अभियान भक्तिकाल

तथा महाभाव की भी आधारशिला बना। अतः आगम एवं तंत्र भी वैष्णव-साधना की पृष्ठभूमि रहे। यही नहीं तंत्र के जरिये से आर्य और आर्येतर जातियाँ एक-दूसरे के साथ जुड़ीं (विश्वम्भरनाथ)। तंत्र-मंत्र भाषा के परिष्कृत बोलियों वाले स्वरूप को समझने की कुंजी है। यहाँ ‘नृतात्विक भाषिकी’ (एंथ्रोपोलाजिकल लिंग्विस्टिक) का भी अभिनव हाशिया खुलता है जो बाद की ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, ब्रजबुलि, मणिप्रवाल आदि की मार्फोलाजी तथा सिमेंटिक्स का खुलासा करता है।

इस तरह के करिश्मे से बोलियाँ परिपूर्ण अभिव्यंजक भाषाएँ भी बन गयीं। फलतः भक्ति लीला और लोकरंजन से संपन्न होकर विद्रोह का आंदोलन भी बन सकीं। अंततोगत्वा निष्कर्ष भी भूलभुलैयाँ वाले निकलेंगे।

यह सुदीर्घ मध्यकाल विभिन्न सामाजार्थिक आकृतिबंधों तथा सामाजिक एवं मानवीय संबंधों की विविधताओं वाला है। इसमें शैव-वैष्णव, तंत्र-आगम, निर्गुण-सगुण, सूफी-दीन-ए-इलाही, ज्ञानमार्ग-प्रेममार्ग-वाममार्ग, योगिनी-मोहिनी, देवी-दुर्गा-राधा, योगी-भक्त तथा नाना मत-सम्प्रदाय गठित होते हैं। मूलतः सिद्ध-सामंत, कृषि-कारीगरी, भक्त-योगी, अवतार-गुरु, कर्मकांड-समाधि आदि के ‘वाद-प्रतिवाद’ तथा द्विपर्णाविरोधता आदि की भीड़ लगी है। अतः कई अंतर्विरोधों (कांटेडिक्शन) को विरोधाभासों (पैराडॉक्स) में, फिर सामंजस्य समन्वय (यूनिटी) में अदल-बदल करते हुए पाते हैं। अंततः एक चतुरंग :



कलात्मक 'प्रचार' और 'सपाटबयानी' पर नोट्स

- रमेश कुंतल मेघ

अभिव्यंजना, अंक : 3-4, अक्टूबर-जनवरी 1977

शुरुआत वाली सहूलियत के लिये प्रचार (प्रोपेगंडा) को कला में 'जीवन-दर्शन' और 'दृष्टिकोण' कह सकते हैं। प्रचार हमेशा विशिष्ट और संलक्ष्य होता है। यह घोर व्यावहारिक अथवा नितान्त आदर्शवादी हो सकता है।

व्यक्ति की दृष्टि से यह आत्मप्रसार है किन्तु समष्टि की दृष्टि से यह लोकमत और विचारधारा भी है।

एक ही संस्कृति, या एक ही विचारधारा, अथवा एक जैसे उद्देश्यों तथा मर्यादाओं वाले समूहों या वर्ग में यह प्रचार एक अतिरिक्त भ्रांति या संदेश, और शक्ति या विवशता बन जाता है।

विभिन्नता तथा वैपरीत्य तथा मामूलीपन के होने पर प्रचार कुत्सित, क्रूर, खतरनाक, नीरस, झूठा, गलत, विरोधी, अवांछनीय, संवेदनहीन, अकलात्मक आदि अथवा इनमें से कुछ कई घोषित किया जाता है।

कला में 'प्रचार' की अभिव्यंजना 'प्रवृत्त्यात्मकता' (टेन्डेंशियसनेस) के रूप में ज्यादा शोभाशाली तथा प्रभावशाली हो सकती है। इस अवस्था वाला प्रचार विरोधियों द्वारा 'प्रतिबद्धता' की ईमानदारी से झेल लिया जा सकता है तथा समर्थकों द्वारा सार्थक 'प्रोग्राम' में ढाला जा सकता है।

अतः खुला प्रचार अक्सर पेंपलेट या नारेबाजी, दस्तावेज या घोषणापत्र जैसा हो जाता है जो कला की सीमा को जबर्दस्ती लांघ जाता है। तुलसी और राहुल सांस्कृत्यायन की खुली प्रचारधार्मिता में भी पाण्डित्य और प्रतिबद्धता का तेज है। किन्तु इनके अभाव में प्रचार अमूमन अवांतर संदर्भ बन जाता है।

अक्सर प्रवृत्त्यात्मकता का स्वरूप कला में निखर नहीं पाता। वह धुंधला और गँदला और उथला हो

जाता है। लतीफा और स्टंट भी लगने लगता है।

क्यों ?

जब प्रवृत्त्यात्मकता जीवन के गहरे अनुभवों, समाज के प्रति दार्शनिक चिन्ताओं तथा व्यक्ति के प्रतिबद्ध आत्ममंथन से जन्म न लेकर सतही ग्रहण या अनुकृति या आरोपण के स्तर पर होती है तो वह भद्दी और मुर्दा होती है। उसका आधार तब मात्र 'विचारधारा' के घिसे-पिटे किताबी सूत्र और सिद्धान्त होते हैं।

तब वह जीवंत यथार्थता और समग्र समाज का शांतिपूर्ण प्रतिबिंब होती है जो एकांगी ढंग से अंतर्मुखी भी है।

तब उसमें बिंबों की सजावट या घटनाओं के चुटकुले ही प्रमुख होते हैं। जब राजनैतिक साहित्य का अधिकांश ऐसा हो तब वह कोरमकोर सस्ता, नारेबाज 'प्रोपेगंडा' है और प्रभावहीन है। तब उसमें या तो कर्मशीलता होती ही नहीं; अथवा बेहद आत्मकारणवादी कर्मता होती है। यहाँ 'विचारधारा' और 'कलात्मकता' के बीच अंतर्विरोध सुलझाये नहीं जा सकते। यही यह बात स्पष्ट होती है कि राजनीति और कला के बीच कैसे अंतर और कितनी समानांतरता है!

किन्तु जब कर्मशीलता वामपक्ष की विचारधारा की पूरकता बनती है अर्थात् जब कर्मता के माध्यम से सिद्ध और सार्थक होती हुई वह विचारधारा अपने सूत्रों को कायांतरित (मेटामर्फोज) कर लेती है तब प्रवृत्त्यात्मकता और कलात्मकता में द्वन्द्वात्मक एकता कायम हो जाती है। मुक्तिबोध और नागार्जुन की, वेणुगोपाल, कुमारविकल की कई कृतियाँ एवं कुमारेंद्र पारसाथ इसकी प्राणवंत मिसालें हैं।

तब कला में बिंबों या घटनाओं का चमत्कार तथा चकाचौंध विलीन होता जाता है।

ऐसी स्थिति में कला में स्वाभाविकता, सहजता और सामूहिकता का पर्यावरण छा जाता है। फिर प्रतिभावन के लिये बिंब इतनी जरूरत नहीं बनते, जितने कि कथ्य (तथ्य)। यह स्थिति 'सपाटबयानी' की शुरुआत है जो दर्शन को सीधे अनुभवों में तथा अनुभवों को सीधे-सीधे दैनिक कर्मों अर्थात् साधारणीकृत एवं आदेशसूचक वक्तव्यों में ढाल देती है। धूमिल ने बिंबहीन कविता रचने का जो बीड़ा उठाया था उसके मूल में यही केन्द्रीय अवस्था है।

अतः विचारधारा 'प्रचार' की कलात्मक शक्ति 'प्रवृत्त्यात्मकता' में उन्मीलित होती है। वही इसकी कसौटी भी है। बिना शक्ति के प्रचार बकवास है और विवेक के सहित यह आत्मबल है। शक्ति के साथ यह आतंक भी हो जाता है।

प्रवृत्त्यात्मकता की कौशलहीन कलात्मकता की उत्तमसिद्धि और उत्कर्ष 'सपाटबयानी' में उन्मुक्त होता है।

यूँ प्रवृत्त्यात्मकता के आरंभिक लघु बिंदु 'रुचि' और 'बोध' है। लेकिन यह 'प्रतीक', 'इतिवृत्त', 'क्षोभ' आदि में भी परिलक्षित होती है। प्रतीक और इतिवृत्त तो भाषा के विचित्र छत्र हैं। 'प्रतीक' पात्रों और घटनाओं से यथार्थता को छान देते हैं, उन्हें देशकाल से विमुक्त-सा बना देते हैं और हमारे लौकिक साक्षात्कार के बीच अर्थभ्रांति का एक झीना परदा सा डाल देते हैं। किन्तु 'इतिवृत्त' ठोस और जीवंत होता है, यह पात्रों तथा घटनाओं तथा थीम की तात्कालिकता को दीवे की तरह जगरमगर करता है। यह कार्यकारण तथा उपमेय-उपमान के दोनों द्वन्द्वों की एकता को अन्तर्न्यस्त किये चलता है। सो, प्रवृत्त्यात्मकता अक्सर इतिवृत्त हो रही है। कवि धूमिल और शमशेर, अथवा नावेलकार जगदंबाप्रसाद दीक्षित और बदीउज्जमा क्रमशः सपाटबयानी वाले रूपों और सामान्यीकरण

वाली दशाओं में प्रवृत्तात्मकता को प्रगटाते हैं।

'9सपाटबयानी' में संप्रेषण की जो सनसनाहट वाली भाव-दशा है वह शब्दार्थों में थोड़ी ही देर रुकती है; तुरन्त अर्थों से संक्रमित हो जाती है और इसके बाद उसका आमना-सामना 'प्रामाणिकता' एवं 'सार्थकता' से होता है।

केवल आत्मगत कौशल और कर्महीन विचारधारा से उपजी बूर्जा कला में जो प्रकार्य दर्शनपक्ष चलता रहा है, अब वही-स्धर्म कर्माश्रयी विचारधारा तथा जीवनगत शैलियों से उपजी कला में- सपाटबयानी के 'अनुभव' निबाहते हैं।

सामूहिक काव्य-कर्म और विचारधारात्मक स्पष्टता की आवश्यकता के बीच तो 'प्रचार' और 'प्रवृत्त्यात्मकता' मानों समाज की जागरूकता और कलाकार के विवेक की कसौटी भी है। जब समाज या विशिष्ट वर्गीय समूह एक खास विचारधारा से प्रतिश्रुत है तो प्रवृत्त्यात्मकतारहित अर्थात् 'अंककात्मक खुला प्रचार' भी संदेश वहन करने के कारण संवेदनशील हो जाता है। किन्तु वास्तव में तो जब कलाकार अपनी कृति-दृष्टि से प्रचार करता है तभी वह 'प्रवृत्त्यात्मक' होता है। किन्तु जब वह एक किताबी प्रचारक और मात्र प्रतिबद्ध कर्मों के रूप में प्रचार करता है अर्थात् अपने कृती को दोयम बना देता है तब भी वह छूँछा प्रचार है। 'प्रवृत्त्यात्मकता' में एक मोहक छद्म होता है किन्तु 'प्रचार' में निहंग झटका।

यूँ तो मामूली और सतही होने की स्थिति में प्रचार और सपाटबयानी, दोनों ही निषेधन की धुरी पर, एक ही नसीब वाले होते हैं तथापि अनुभव, प्रतिबद्धता और दर्शन ही दोनों को यशस्वी बनाते हैं। यहाँ भी दोनों एक सकारात्मक धुरी में मिल जाते हैं।

अतः सपाटबयानी और प्रवृत्त्यात्मकता 'प्रचार' के ही कलात्मक प्रतिरूप हैं।

मूर्ति कला पर कुछ नोट्स (संदर्भ : रमेश कुंतल मेघ)

- सुमनिका सेठी

शिल्पकला या मूर्तिकला की बात अगर चले तो कुछ स्मृतियाँ कौंधती हैं, जैसे क्रमशः कोहरे में से, धुन्ध और धुएँ में से प्रकट हो रही हों। कुछ मूर्तिशिल्प थे जो बचपन और किशोरावस्था में हमारे साथ हमारे घर में रहा करते थे। घर के भीतर अपने निर्धारित कोनों में स्थापित वे पश्चिमी सौंदर्य छवियाँ और दृश्य थे। साल दर साल वहीं। अगर किसी दिन वे अपनी जगहों से हटते तो चतुर्दिक दृश्य की कैफ़ीयत खटकने लगती शायद।

फिर घर से बाहर किसी चौराहे पर किसी इतिहास पुरुष, किसी घुड़सवार की भव्य प्रतिमा, रंग बदलते आकाश के नीचे। उसके इर्द-गिर्द जीवन नदी सा बहता रहता, लेकिन वह स्थिर, थमी हुई सबको देखती रहती। याद आता है किसी बगीचे में बारिश में भींगती कोई आवक्ष मूर्ति। फिर मुम्बई आदि शहरों के संग्रहालयों में स्पाटलाइट की दीप्ति तले देखी गई अनेक मूर्त-अमूर्त शिल्पछवियाँ। अरब की खाड़ी यानी समुद्र में फेरी से घारापुरी द्वीप की यात्रा के बाद हाथीगुम्फा (एलिफेंटा) के भीतर नीम अन्धेरे में प्रकट होती त्रिमूर्ति के विराट तीन मुख, विराटकाय अर्धनारीश्वर, और शिवकथा के अनेक नाटकीय क्षणों को अंकित करने वाले तमाम फलक। ढाई हजार साल पुरातन कान्हेरी या कृष्णशैल की शिला को काट कर बनाये गए चैत्य और विहारों में कोरी गई बुद्ध और बोधिसत्वों की ध्यान में डूबी छवियाँ।

और फिर पेरिस के लूव्र में अचंभित कर देने वाला यूनानी, रोमीय और मिस्री शिल्प कला का अपार वैभव। फ्रांस के ही वर्साइ राजमहल से संलग्न व्यापक बाग-बगीचों, जलाशयों के आसपास और बीच में रखी गई आदमकद मूर्तियाँ-विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं में। कहीं कभी किसी के अंग भग्न भी हों तो भी उसके पूर्ण प्रभाव में कोई भंग या दरार नहीं आने पाती, जैसे जीवित से भी कुछ अधिक प्राणवत्ता थी, विलक्षणता थी।

यह सब था, लेकिन रहस्य भरे इस सम्मोहन के

आगे तो कुछ नहीं था, बस ठिठक जाना भर, दृष्टि का अटक जाना भर, कुछ देर के लिए चेतना का रोज़मर्रा के भाव प्रवाह से अलग हो जाना, निजमूलों से छिटक जाना, कुछ मुक्तमना सी अवस्था। यह कैसा देखना था भला।

हम इसी जगत में, इसी रूपमय जगत में रहते चले जाते हैं, भीड़ में से गुजरते हैं, बाजारों में निकलते हैं, आस-पास मनुष्य, पशु, वस्तुएँ... और दृष्टि है कि इधर-उधर फिसलती रहती है, ज्यादा तो कहीं रुकती ही नहीं, पर फिर अचानक एक काले ग्रेनाइट पत्थर में या श्वेत संगमरमर ढली कोई मनुष्यदेह खड़ी मिलती है, कोई काष्ठ का चेहरा, कोई आवक्ष प्रतिमा, कोई चेष्टा, कोई मुद्रा, कोई भंगिमा और हमारी आँख स्थिर हो जाती है, अटक जाती है, आबद्ध हो जाती है। हालांकि, लोग कहते हैं कि हर आँख वहाँ अटके ऐसा जरूरी भी नहीं, क्योंकि चीजों और जनाकीर्ण जगत को देखते-देखते हमारी आँखें एक तरह के बासीपन और अंधत्व की शिकार भी हो जाती हैं।

लेकिन, फिर इस अभेद्य सम्मोहन के आगे बस अँधेरा था, उसके परे क्या राह है, कहाँ पहुँचा जा सकता है, कुछ भी तो पता नहीं। बस एक ठिठकन। इसके आगे भी उन मूर्त रूपों की अनिर्वचनीय सी लगती मौन भाषा को सुना जा सकता है, यह तो मेरे गुरु सौन्दर्यतत्ववेत्ता रमेश कुंतल मेघ की बदौलत पता चला।

आज सोचो तो हैरानी होती है कि एक ओर आधुनिकता और आधुनिकीकरण पर इतना प्रभूत चिंतन करने वाला एक व्यक्ति आदिम समय और पुरातन मिथकों के संसार में भी भटकता है। आधुनिक समाज-विज्ञानों से निरन्तर संवादरत एक अध्येता विचारक प्राचीन भारतीय दर्शन, रस काव्यशास्त्र के रहस्यों का भी उन्मीलन किया करता है। साहित्य के शाब्दी संसार का वासी अशाब्दी कलाओं की दुनिया का भी घुमन्तू बाशिंदा है।

वह सौंदर्यप्राश्निक और प्रबल जिज्ञासु ही नहीं, वह तो समाज-सांस्कृतिक परिवृत्त में उसको (सौंदर्य को) खोजना चाहता है, और उसके ज़रिये सत्य और शिवत्व की स्थापना करना चाहता है। क्योंकि, शायद अपने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह उसे भी यह भान है कि अपने अतीत की ज्ञान परंपरा से अछूते रहकर आधुनिकता की बात कैसे हो सकती है कि अपनी जमीन पर पुख्ता ढंग से खड़े हुए बिना दूसरों से हाथ कैसे मिलाया जा सकता है।¹

एम.ए. की कक्षाओं में वे भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की गुत्थियाँ सुलझा रहे हैं। भारत के रससूत्र की व्याख्या करते हैं, लेकिन फिर सौन्दर्यबोध शास्त्र की कक्षाओं में वे श्रीशंकुक का चित्रसूत्र खोलते हैं— चित्रतुरंग न्याय। चित्रकला के षडंगों की व्याख्या करते हैं—

रूपभेद : प्रमाणानि भाव लावण्य योजनं

सादृश्य वर्णिकभंग इति चित्र षडंगकम्।

वे अपने विद्यार्थियों से कहते हैं कि मूर्तिकला और भारतीय दृष्यकलाओं के करीब जाना तो पहले अपने नयन धो कर आना। इसके शायद कई अर्थ थे। एक तो वही जिसकी ओर इरविन ऐडमैन ने इशारा किया था कि हमें अपनी ही कंडीशनिंग से बाहर आना होगा, आँखों की खो चुकी तात्कालिकता और निश्छलता को पुनः प्राप्त करना होगा।² दूसरे नग्नता विषयक ग्रंथियों से मुक्ति पाने की बात थी। डॉ. मेघ एक जगह लिखते हैं, “आखिर हम नग्न मानव-देह से इतना डरते घबराते क्यों हैं? क्यों नहीं अपने बालमन की युवा घड़ी को पीछे करके हम अपने शिशु नयन खोल पाते? हाँ! अब मानवता के अपने बचपन तथा समूह संकलित अवचेतन (कलेक्टिव अनकांशस) को जगा तो लें।³

वे बारंबार यह भी कहते कि इतनी समृद्ध और दीर्घ कलापरंपराओं वाले इस देश में चतुर्दिक एक तरह की अनपढ़ता व्याप्त है— यह साधारण लोगों में तो है ही, पढ़े-लिखे मनीषियों, सुधीजनों तक में है। इसे वे दृश्य असंवेदना या ‘विजुअल इललिट्रेसी’ कहते।⁴

वे अजंता के पद्मपाणि बोधिसत्व के चित्र में ठहरी हुई गहन करुणा की भंगिमा को समझाते हैं। वे दीदारगंज

की चँवरधारिणी यक्षिणी के परिपाठ को खोलते हैं और तब उस दृश्य पाठ का भाष्य शिल्पकला के परिभाषिकों को समझाते हुए करते हैं।

यह सब सुनते हुए, हम कुछ-कुछ समझते हैं, बहुत कुछ नहीं भी समझ पाते। फिर भी गुनते रहते हैं। शायद आजीवन गुनते रहेंगे। वे अलग-अलग कलाओं की दुनिया में ले जाकर, घुमाकर जब बाहर आते हैं तो फिर वे सौंदर्यबोध शास्त्र की उस दुनिया की ओर इशारा करते हैं जहाँ ये सब हैं— अपनी विलक्षणताओं और कुछ केंद्रीय साम्यताओं के ज़रिए एक दूसरे में प्रवाहित होती हुई। उस दुनिया में कलाकार है, माध्यम है, रचना प्रक्रिया है, रूप और अंतर्वस्तुमय कलाकृति है और है आशंसक। वहाँ अभिव्यंजना-संप्रेषण, कौशल और तकनीक, मुद्रा, भाव-भंगिमा, बिंब, प्रतीक, मिथक, वृत्तांत और सादृश्य सभी तो हैं।

वे बताते हैं कि काव्य और संगीत से शिल्पकला कैसे अलग है, क्योंकि यह अचल कला है, स्थानिक है, सुघट्यात्मक (प्लास्टिक-जिसे आयतन में ढाला जा सकने वाली) है। लेकिन, दूसरी ओर उसमें संगीत की अमूर्त लय भी है जिसके कारण उसे प्रशीतित संगीत (फ्रोजेन म्यूजिक) कहा जाता है, और काव्यात्मक सादृश्य तो रूपंकर कलाओं में भी विद्यमान होता ही है। और यों उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र की सैद्धान्तिकी रची। ‘अथातो सौंदर्य जिज्ञासा’ जैसा ग्रंथ सौन्दर्य बोधशास्त्र के घटक तत्वों का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त ग्रंथ है। और फिर ‘साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक’ मनुष्य के कला विषयक चिंतन और चेतनाओं की यात्रा की महती खोज करता है। लेकिन, फिर वे कुछ और आगे बढ़कर इन कलाओं के अध्ययन के मॉडल भी रचते हैं और उसका अनुप्रयोग भी करते हैं। वे इनके ज़रिए सौंदर्यबोध शास्त्रीय रिसर्च या अनुसंधान की नींव भी रखते हैं, जिसका चरित्र अनिवार्यतः अंतर्कलात्मक या तुलनात्मक है और जिसकी शब्दावली और भाषा एक तरह की ‘मेटा लैंग्वेज’ है।

अब आइए मामल्लपुरम के महिषासुरमर्दिनी फलक के उनके सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन के करीब चलें, ताकि उनके मॉडल के कुछ सूत्र हासिल हों।

मामल्लपुरम की महिषासुरमर्दिनी गुफा के उस विशिष्ट फलक तक आने से पहले डॉ. मेघ एक 'लॉग शॉट' लेते हैं, उस एक कलाकृति को एक वृहत्तर देश (स्पेस) और फिर वृहत्तर काल (ऐतिहासिक काल) में लोकेट करते हैं। वे एक दृश्य पाठ (विजुअल टेक्स्ट) का परिपाठ (कॉन्टेक्स्ट) पहले रचते हैं।

वे लिखते हैं भारत के, 'दक्षिणापथ में ईसापूर्व सातवीं सदी में तमिलनाडु के पल्लवयुग में विद्याओं और कलाओं के नवाचार की भरमार रही।'⁵

अर्थात् एक वृहत् देश और काल की सूचना के साथ उस समय के कलाविषयक वातावरण का भी संकेत। और फिर 'ज़ीरो इन' करते हुए, काफी धीरे-धीरे अपने मूल पाठ तक आने की तकनीक क्लासिकी कृतियों को समझने की एक कुंजी है। दक्षिणापथ में तमिलनाडु और फिर उसमें मामल्लपुरम नगर, जो एक नौसेना पत्तन और शैव-वैष्णवों का तीर्थनगर था। वे मल्ल शब्द से मामल्लपुरम नाम की व्याख्या करते हैं और यह भी कि इसे बसाने वाले नरसिंह वर्मन (630-668 ई.) एक कुशल मल्ल (पहलवान) थे। अतः आशंसा केवल कोरी भावुक चेष्टा नहीं, वरन गहरी ज्ञान मीमांसा भी है।

वे समय के इस नाभिकेंद्र (पेग) को थामे हुए यह भी कहते हैं कि नरसिंह वर्मन कश्मीर सम्राट ललितादित्य के समकालीन थे। यानी काल बोध में धुर दक्षिण से धुर उत्तर तक के स्पेस को भी अंकित कर देते हैं।

फिर वे पल्लव कला के प्रथम चरण के वास्तुरूपों की चर्चा करते हैं। (सटीक होने की उनकी विद्वत्तापूर्ण संलग्नता ही उनके वाक्यों को संश्लिष्ट भी बनाती है)। रथ, गुफा, मंडप, शिलापट्ट खुदवाना और उत्कीर्णन जिसमें संयम, सरलता, कौशल और परिष्कार का सौंदर्यबोध झलकता है। और फिर वे समय और देश में भविष्य में अपसरण करते हुए लिखते हैं— "कालचक्र में इन रूपों का प्रभाव दक्षिण एशिया के जावा और कम्बोडिया (बोरोबोदूर एवं अंगकोरवाट के संदर्भ) तक फैला।"

इस प्रथम चरण में शिलाकाट तकनीक में उकेरन (कार्विंग) ऊपर से नीचे की ओर और बाहर से अंदर की ओर होता था। वे मामल्लपुरम के धार्मिक इतिहास

की ओर संकेत करते हैं और उसकी सांस्कृतिक और मिथकीय समृद्धि की चर्चा करते हैं जिसमें शैव और वैष्णव समान महत्वशाली थे तथा लक्ष्मी और दुर्गा के रूप भी अंतर्बाह्य व्याप्त थे।

और यों वे दुर्गा के पैनल में सम्मुख आते हैं तो प्रथम पाठ में नयन सम्मूर्तियों की पहचान करते हैं। मूर्ति कला में मनुष्य देह के साथ-साथ एकाकी प्रतिमा का वैभव है तो एक दृश्य, एक स्थिति, एक दशा, महावृत्तांत या मिथक के एक नाटकीय क्षण में भी प्रीज किया जाता है। माना जाता है कि शिल्प में सदा गति अंतर्निहित रहती है, एक क्षण जिसके आगे और पीछे जीवन गतिमान है। इस पैनल को भारतीय दर्शक तो महिषासुरमर्दिनी के रूप में पहचान लेता है पर कोई अनजान भी उसमें युद्ध की ऊर्जा और तनाव को तो पढ़ ही लेगा।

तो दुर्गा यहाँ महिषासुर से आकार में छोटी अंकित हुई हैं, उनके आठ हाथ तो हैं और वे सिंह पर सवार एक षोडशी सी हैं और धनुष की डोरी कान तक खींचे हैं। दूसरी ओर महिष मुख और मानव देह वाला महिषासुर है— बड़ा और चौड़े कंधों वाला बलशाली पुरुष। हाथ में भारी गदा थामे है, फिर भी तीरों की बौछार से अस्तव्यस्त हुआ सा जैसे मुड़ रहा है, बच रहा है, बैकफुट पर है, पीठ दिखा रहा है।

डॉ. मेघ शिल्पकार की भूमिका में जाकर पैनल की पूरी संयोजना और कंपोजीशन की व्याख्या करते हैं, प्रतीकों की भाषा पढ़ते हैं, मुद्राओं और भंगिमाओं के प्रति सचेत होते हैं, तालमान और अनुपात के संबंधों की बात करते हैं, आयतन और देह आयामी रिलीफ में गहराई और पर्सपेक्टिव के प्रश्नों के रूबरू होते हैं। दुर्गा महिषासुर से आकार में लगभग आधी हैं, जिससे पर्सपेक्टिव या दूरी का कलात्मक भ्रम पैदा हुआ है। माना जाता है कि भारतीय कला में पर्सपेक्टिव की धारणा नहीं है। भारतीय कला का अपना निजी व्याकरण है और कम से कम आधुनिका से पूर्व भारतीय कलालोक शरीराध्यात्मिक रहा है, यूनानी कला की तरह एनाटॉमीपरक नहीं।

पर यहाँ ऐसा तो नहीं लगता। अग्रभूमि में (फोरग्राउंड) में महिषासुर हैं, देवी पृष्ठभूमि से (बैकग्राउंड) आगे बढ़ती

॥ अनुचिंतन ॥

दिखती हैं। और रमेश कुंतल मेघ की व्याख्या वीररस के उत्साह और भयानक रस की भीति तक पहुँचती है, हम युद्ध का दर्शन करते हैं। यहाँ महिषासुर के वध का चिरपरिचित मोटिफ नहीं, उससे पहले का घमासान है।

दृश्य में कई नवोन्मेष हैं जैसे देवी के हाथों में तीरकमान है न कि भाला। महिषासुर का मुख महिष और शरीर मनुष्य का है, परिपाटी के विपरीत। दुर्गा के गिर्द घेरा बनाए हुए गण बौने और स्थूलकाय हैं जबकि महिष के योद्धा लम्बे-छरहरे तथा देवताओं के छन्न वेश में हैं। खैर...

निष्कर्षतः जितना गझिन यह पैनल है, इस निर्भाषिक

कला का मेघ जी का भाष्य भी उससे कम गझिन नहीं है। तो फिर हम आप भी इस इंद्रियसम्बेद्य रूपों वाली कला दुनिया के भीतर कदम तो रखें, रूबरू तो हों, नयन तो खोलें...

कान्हेरी की आठ सौ गुफाओं वाली बौद्ध बस्ती को देख ऐसा ही सम्मोहन जगा था। लेकिन सम्मोहन से आगे जाने की प्रेरणा हुई थी। और तब कुंतल के कला (कार) - कलाकृति - और आशंसा वाले मॉडल के तहत कान्हेरी की बौद्ध शिल्पकला पर लिख पाना संभव हुआ था।

संदर्भ सूची

1. रमेश कुंतल मेघ, आलोचना को होने दो केंद्र-अपसारी, (कानपुर : अमन प्रकाशन, 2018), पृष्ठ-216
2. इरविन एडमैन, ललितकलाएँ और मनुष्य, (दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1966) पृष्ठ- 54.
3. रमेश कुंतल मेघ : आपकी कातिर मुनासिब कार्यवाहियाँ, (कानपुर, अमन प्रकाशन, 2018) , पृष्ठ-83.
4. वहीं, पृष्ठ- 69-72.
5. संस्कृति (पत्रिका) में रमेशकुंतल मेघ के लेख से, (दिल्ली, भारत सरकार : संस्कृति मंत्रालय, 2010), पृष्ठ : 1-4)



9820113982

sumanikas@gmail.com

बी-1403, क्षितिज, ग्रेट ईस्टर्न लिक्स, राम मंदिर रोड, गोरेगाँव (पश्चिम), मुंबई - 400104

तुलसी आधुनिक वातायन से : विद्वता के मेघ

- ममता कुमारी

रमेश कुंतल मेघ हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ आलोचकों में शीर्षस्थ रचनाकार रहें। इनका जन्म वर्ष 1931 में हुआ था और गत 2023 में इन्होंने इस जगत को अलविदा कहा। मेघ जी अप्रतिम प्रतिभा के धनी रचनाकारों में एक थे। इनके अध्ययन का केंद्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रहा परन्तु अध्यापन हेतु इन्होंने कई शहर कानपुर, लखनऊ, जालंधर, अमृतसर क्रमशः बदले। मेघ जी ने अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। इनकी लेखन शैली अन्य आलोचकों से कुछ भिन्न रही जिसके कारण कई बार इन्हें हाशिये का भी दंश उठाना पड़ा। मेघ जी के लेखन में गहनता-गूढ़ता एवं क्लिष्टता के व्यापक दृष्टिकोण पाये गए। इनकी रचनाएँ सहजता के स्थान पर गंभीरता को प्रश्रय देती थीं, अतः साधारण पाठक के लिए इनकी रचनाएँ सरल नहीं रहीं। यही विशेषता इन्हें अन्य रचनाकारों से भी विशिष्ट बनाती थी। इनका धीर-गंभीर लेखन इनकी खूबी थी। रमेश कुंतल मेघ अपने उपनाम के सदृश्य रहें। जिस प्रकार मेघों में वर्षा की असंख्य बूंदें समाहित होती हैं और धरती पर गिरने से ये इसे हरियाली प्रदान करती हैं, ठीक उसी प्रकार रमेश कुंतल मेघ की साहित्यिक प्रज्ञा एवं प्रतिभा ने हिन्दी आलोचना साहित्य को समृद्ध किया। इनकी कई आलोचनात्मक कृतियाँ हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं जैसे 'मिथक और स्वप्न', 'कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका', 'तुलसी : आधुनिक वातायन से', 'मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौंदर्य बोध', 'क्योंकि समय एक शब्द है', 'कला शास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी क्रांतियाँ', 'सौंदर्य - मूल्य और मूल्यांकन', 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा', 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक', 'वाग्मी हो लो!', 'मन खंजन किनके?', 'कामायनी पर नई किताब', 'खिड़कियों पर आकाशदीप' इत्यादि।

मेघ जी की प्रमुख कृतियों में 'तुलसी : आधुनिक वातायन से' गहन एवं गंभीर रचना रही। इस कृति के माध्यम से पाठक तुलसी के विषय में, उनके लेखन एवं देश-काल, शैली-प्रभाव आदि का तथ्यात्मक परिचय पाते हैं। मेघ जी से पूर्व कई लेखकों ने तुलसी को आधार कर रचनाएँ कीं परन्तु मेघ जी की 'तुलसी: आधुनिक वातायन से' कुछ अर्थों में अलग है। इन्होंने तुलसी के रचना में सौन्दर्य के महत्वपूर्ण बिन्दुओं को उजागर किया। इसके पहले रचनाकारों ने तुलसी के जीवन, सृजन एवं इनके दोहों की व्याख्या वगैरह पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। परन्तु मेघ जी ने तुलसी का समग्र एवं विस्तारपूर्वक वर्णन किया जिससे इनके ध्यान-मनन, मूल्यांकन, शोध एवं अनुसंधान आदि विधियों की भी बेहतर समझ एवं प्रयोग को देखा जा सकता है। यह पुस्तक लगभग सात गोष्ठियों एवं दो परिशिष्टों में विभाजित है। प्रत्येक भाग में तुलसी के जीवन, सृजन एवं उनके रचनाकाल को गहन एवं विस्तृत तरीके से मेघ जी ने व्याख्यायित किया है। मेघ जी ने, तुलसी के युग में पौराणिक अर्थात् मिथकीय काल और ऐतिहासिक काल के आयामों को भी दर्शाया है। पौराणिक विषयों पर चर्चा करना एक जोखिम का कार्य होता है इस बात से मेघ जी सहमत थे- "भारतीय मध्यकालीन अध्ययनशास्त्र" एक बहुत नाजुक एवं दुस्तर कार्यक्षेत्र है जिसे छूने में बहुत मौलिक जागरूकता की अपेक्षा है। इस काल पर धार्मिक पुनरुत्थानवादी तथा विध्वंसवादी दृष्टियों से काफी लिखा जा चुका है। इसलिए इसे आध्यात्मिक और अलौकिक आस्था से अलग कर समाजशास्त्रीय तथा सौंदर्यशास्त्रीय धरालत पर अंकित करने पर हमें कई जटिल गांठों और ज्वलंत चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा।" यह सर्वविदित है कि मध्यकाल भक्ति आंदोलन, विभिन्न मतों, पंथों, संतों एवं अनुयायियों का रहा।

॥ अनुचिंतन ॥

इसमें एक-दूसरे के मत के प्रति विरोध, टकराव, सहमति आदि की भावनाएं सामान्य रूप से विद्यमान नहीं। अतः प्रतिरोध की कई परतों को मेघ जी विवेकपूर्ण तरीके से 'तुलसी : आधुनिक वातायन में' दिखलाया। तुलसी के लेखन के समय मुगल शासन व्यवस्था थी। अतः उनकी रचनाओं में उस समय की आभा भरपूर देखने को मिलती है। उन्होंने तत्कालीन समय के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांप्रदायिक आदि परिवेश की उथल-पुथल को देखा था। मेघ जी ने मुगलकाल के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सामान्य जनता की दशा एवं उनकी जीवन शैली की कठिनाइयों को दिखाया। तुलसी ने मुगल व्यवस्था के विषय में कहा— "प्रजा सिद्धांत-योगियों की श्रद्धा नहीं करती थी बल्कि उनसे डरती थी। सारे समाज में तन्त्र-मन्त्र-यन्त्रमूलक साधनाएं फैली थीं जो व्यक्तिगत हित या व्यक्तिगत मोक्ष पर ही बल देती थी। अतः समष्टिगत चित्त और स्वस्थ मन का अभाव हो गया था। अलौकिक चमत्कारों, सिद्धियों, तन्त्र-मन्त्र-शकुनों, अवश भाग्यवाद, साधुओं आदि के प्रति गहरा अंधविश्वास फैल गया था।"² मुगलकालीन जनता भोली-भाली, साधारण एवं अशिक्षित थी। सिद्धों एवं योगियों ने इस स्थिति का भरपूर लाभ लिया। ये साधारण जन को भ्रांति जाल एवं मोक्ष, मुक्ति आदि के मार्ग पर भटका कर उन्हें ठगते थे। आडंबरों के भयंकर प्रभाव, भय, आशंका में डूबी हुई जनता दिशाहीन की भाँति थी। धार्मिक कर्मकांडों का बोलबाला होने कारण सामान्य जनता भय एवं निराशा के गहन तम से विचलित थी। कर्म का स्थान धर्म ने ले लिया था और धर्म का महिमामंडन शून्य तथा पाखंडों से पूर्ण था। तुलसी के माध्यम से मेघ जी ने मध्यकालीन धार्मिक अराजकता को आलोचित किया है। उन्होंने लिखा— "मध्याकाल में वर्णाश्रम, कर्म सिद्धांत भाग्य आदि के विचारों ने अपनी जीवंतता खो कर सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक दौलत, वैज्ञानिक (तार्किक) दृष्टिकोणों के प्रति दूसरे प्रकार का रुख अपनाया (क्योंकि आध्यात्मिक विचार केवल 'भौतिक परिस्थितियों' का ही प्रतिबिम्ब नहीं होते हैं) तुलसी

के समय में दीन-हीन कृषक वर्ग में सुगबुगी उठ रही थी। इसकी धार्मिक अशांति को कबीर ने पहचाना और सामाजिक विनाश को तुलसी ने।"³ तुलसी ने अपने तत्कालीन घटनाओं को करीब से देखा था। मेघ जी स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार कबीर ने धार्मिक अशांति को देखा-समझा उसी प्रकार उसी के पास भी सामाजिक रुढ़ियों, बाधाओं एवं तंगी को पहचानने की पारखी दृष्टि थी। तुलसी समाज की गति एवं मति को भलीभाँति समझते थे। समाज में विकास के नाम पर कोई सरोकार नहीं थे। जनता शासक की अकर्मण्यता के कारण अभावहीनता के दिन काट रही थी। मेघ जी ने मध्यकालीन समाज में शक्ति की निरंकुशता से संघर्ष के विविध प्रभाव के विषय में कहा— "मध्यकाल में भी सामन्तों और गैर-सामन्तों तथा अमीरों और गरीबों के बीच राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष था। इसी से अभिव्यक्ति राजनीति शक्ति, नागरिक मर्यादा, नैतिक दर्शन, ऐतिहासिक आधिभौतिकता, कानूनी सिद्धांत और व्यवहार के रूप में पुष्पित होती थी। उस काल में जाति (वर्ग) के आधार पर शक्ति को संस्थागत बना दिया गया था; और धर्म की बहुधा लोकमत को वाणी देता था।"⁴ मध्यकाल प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के ढाँचे पर टिका था। परन्तु इसमें प्रजा के सुख-दुख, वृद्धि-विकास के लिए कोई प्रश्न या प्रयत्न नहीं थे। सामन्तों एवं गैर सामन्तों की आपसी प्रतिद्वंद्विता, धनी (निर्धन भेदभाव तथा राजीनितक) आर्थिक मुद्दे सामाजिक विषमता के प्रमुख कारण थे। इन्हीं संघर्षों के भिन्न-भिन्न प्रभाव प्रस्फुटित होते थे। जातिवाद की समस्या अपने चरम पर थी जो शक्ति एवं संस्था को पुष्ट करने का माध्यम बनी। मध्यकाल में धर्म की जड़ें अत्यधिक गहरी थीं जिसके कारण धार्मिक भावों को प्रश्रय अधिक मिला। अतः कह सकते हैं कि मध्यकाल में किसी व्यक्ति के अस्तित्व का मानक उसका वर्ण एवं धर्म विशेष रूप से रहा।

मेघ जी ने तुलसी के सृजन पक्ष को एक अलग आयाम से देखने की दृष्टि दिखलाई। 'तुलसी :

॥ अनुचिंतन ॥

आधुनिक वातायन से' पुस्तक में तुलसी की रचनाओं में सौंदर्यबोध को उजागर किया है- "तुलसी ने 'मानस' तथा 'कवितावली' आदि में जो पर्वत, वन तथा वनमार्गों एवं वनयुवतियों के चित्र रचे हैं उनमें मूलतः उन के चित्रकूट - निवास का यथातथ्य प्रक्षेपण है। यही नहीं चित्रकूट की प्रकृति में धार्मिक परिवेश के संयोग का कुछ ऐसा प्रभाव रहा था कि तुलसी ने एक ओर तो प्रकृति-सौन्दर्य को नैतिक सूक्तियों की गांठों से बांध दिया ('भगवत्' का प्रभाव तो था ही); तथा दूसरी ओर सारी प्रकृति को राम-लक्ष्मण-सीता की शोभा की उपेक्षा कम महत्व दिया।"⁵ मेघ जी उपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य के दो प्रकारों को दिखाया है जिसमें पहले तो तुलसी प्रकृति की मोहक सुंदरता को चित्रित करते हैं दूसरी तरफ भक्ति की सुषमा को पहले की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। अतः चित्रकूट की मनोरमता एवं सौन्दर्य को नैतिक सूक्तियों के बावजूद राम-लक्ष्मण-सीता की शोभा का उत्कर्ष कम नहीं हुआ। मेघ जी ने तुलसी के जीवन में आए विशेष स्थानों एवं उससे उनके गहरे संबंध को भी अवलोकित किया। तुलसी के जीवन एवं रचनात्मक काल में चित्रकूट, अयोध्या एवं काशी का विशेष महत्व रहा। इन स्थानों के विषय-वर्णन तुलसी की रचनाओं में व्यापक मात्रा में रहा। तब मेघ जी की पंक्तियाँ सटीक

प्रतीत होती हैं- "तुलसी के जीवन में चित्रकूट, अयोध्या तथा काशी इन तीनों तीर्थ-नगरों का गहरा असर पड़ा है। गीतावली (2143-50) में चित्रकूट का विशिष्ट प्रकृति-चित्रण और पुरनिवेश है। वन में पाण्डर-चम्पक और कचनार वृक्ष होते हैं। वर्षा ऋतु में तो यह अधिक सुहावना हो जाता है।"⁶ उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृति सौन्दर्य की आभा से एक नवीन परिवेश की सृष्टि हुई है।

अतः हम देखते हैं कि 'तुलसी : आधुनिक वातायन में' रचना में मेघ जी ने तुलसी को एक निश्चित परिपाटी से अलग अंकित किया है। तुलसी की रचनाओं एवं उनकी कविता से ऊपर उठकर उनकी रचनाओं में सौन्दर्य के अलग-अलग दृष्टिकोण को मेघ जी दिखलाया है। भक्तिकाल एवं सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी तुलसी की सक्रियता को अनूठे तरीके से चित्रित किया गया है। इस प्रकार विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण कार्यों को करने का धैर्य एवं साहस कम रचनाकारों में होता है। रमेश कुंतल "मेघ" इसी प्रकार के रचनाकारों में एक थे। ये एक तपस्वी की भांति पूरे जीवन साहित्य साधना में लीन रहे। इनकी साहित्यिक कृतियाँ साहित्य जगत की महत्वपूर्ण अंग हैं अतः यह कहा जा सकता है कि मेघ जी विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकारों में एक थे।

संदर्भ सूची

1. मेघ, कुन्तल रमेश, तुलसी : आधुनिक वातायन से, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ. सं. - 2
2. वही, पृ. सं. - 60
3. वही, पृ. सं. - 165
4. वही, पृ. सं. - 91
5. वही, पृ. सं. - 107
6. वही, पृ. सं. - 106

सहायक प्राध्यापक
साउथफील्ड कॉलेज, दार्जिलिंग (प.बं.)

लातिन अमरीका और रमेश कुंतल मेघ

- राणा प्रताप

विश्व राजनीति में यह कहा जाता है कि आज के अफ्रीका और लातिन अमरीका अगामी काल के महाद्वीप हैं। समान दशाएँ हैं, पर इसके साथ ही यह भी सही है कि बीस लातिन गणतंत्रों में से लगभग आधे में ही हमारे दूतावास हैं। चौथे दशक में जब जवाहरलाल नेहरू पराधीन मानवता की स्वतंत्रता की कल्पना से आंदोलित थे, उन्होंने इस महाद्वीप का भारतीयों को पहला परिचय दिया था, “यदि तुम भूगोल या एटलस से परामर्श लोगे तो तुम्हें एक देश आज़ाद और स्वाधीन प्रतीत होगा। लेकिन यदि तुम पर्दे के पीछे झाँक कर देखोगे तो तुम्हें यह एक दूसरे देश के पंजे में जकड़ा मिलेगा। ... ऐसे प्रातिभ यही ‘अदृश्य साम्राज्य’ है जिस पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका का आधिपत्य है। ... ऐसे प्रातिभ ढंग का इस्तेमाल करना ही आर्थिक साम्राज्यवाद कहलाता है। नक्शा इसे नहीं दिखाता। दौलत पर नियंत्रण करने के जरिए से किसी देश के लोगों पर और वास्तव में खुद उस देश पर नियंत्रण करना काफी आसान है। कौन कह सकता है कि इन पंक्तियों को लिखने वाला अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद इन देशों की आर्थिक पराधीनता के खिलाफ आवाज़ उठाने के बजाए अपने देश में ही जाने-अनजाने इसी प्रकार के आर्थिक और बौद्धिक साम्राज्य की नींव मजबूत करता रहा।

दिनों-दिन यह पर्दा और गाढ़ा होता चला गया है। पर विश्व के रंगमंच पर क्यूबा, ग्वाटेमाला, अर्जेंटीना आदि की हाल की घटनाओं ने पुनः कुहासे को चीरा है और हमारा ध्यान लातिन अमरीका की ओर, उसके सारे अतीत और वर्तमान के साथ, आकर्षित हुआ है। इसने बड़े संघर्षशील महाद्वीप के पूरे सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक ढाँचे पर विचार करना, वह भी एक साथ, आसान नहीं है। बौद्धिक और साहित्यिक संस्कृति पर विचार करना एक अलग ही मसला है।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी और सौंदर्यशास्त्री विचारक रमेश कुंतल मेघ का कहना है कि “हम मुख्यतः सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित करेंगे। परंतु इन पर विचार करने के लिए लातिन अमरीका की पहचान भी ज़रूरी है अर्थात् भूमि और उसके अर्थतंत्र और सामाजिक जीवन, उसकी संस्कृति और इतिहास के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी लाजिमी है।”

नवीन-प्रवीण शोधप्रज्ञ उनसे बहुत कुछ सीख सकता है। उनकी शोध की प्रविधि को जान सकता है। जैसे लातिन अमरीका के बारे में जानकारी देने के पहले बता देना चाहते हैं कि यह भूगोल की दृष्टि से ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, विशाल मैदानों, रेगिस्तानों और घने जंगलों का देश है। आज भी महान नदियाँ, विशाल पर्वत, आवागमन तथा परिवहन की कमियाँ इसमें विविधता बनाए हुए हैं। उसके बावजूद इससे एकता-बोध भी होता है। भौगोलिक रूकावटों के होते हुए भी, वहाँ के राष्ट्रों को एक सूत्र करने वाले कई शक्तिमान तत्त्व हैं। उन्नीसवीं सदी से स्पेनी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज और संयुक्त राज्य अमरीका यहाँ शक्ति-संतुलन कायम करने के लिए बेचैन रहे हैं। मूल महाद्वीप के वेनेजुएला, कोलम्बिया, इक्वाडोर, पेरू, तीनों गायना, ब्रीजल, बोलिविया, परागुए, उरुग्वे और अर्जेंटीना आदि तथा-कथित बीस गणतंत्रों की जनसंख्या बीस करोड़ अस्सी लाख और क्षेत्रफल लगभग अस्सी लाख वर्गमीटर है अर्थात् धरती के 16 प्रतिशत में उसकी कुल 7 प्रतिशत जनसंख्या रहती है। यहाँ के मूल निवासी “रेड इंडियन” हैं, पर आज दक्षिण अमरीका में इंडियन, श्वेत और नीग्रो जातियों का मिश्रण है। यहाँ के मूल निवासी रेड इंडियनों ने अजटेक (मैक्सिको) माया और इंका (पेरू) जैसी समुन्नत सभ्यताओं का निर्माण किया था। यह महाद्वीप

खनिज सम्पत्ति से भी समृद्ध है।

मेघ साहब आगे बताते हैं, “इन देशों ने एक दो या तीन मालों के निर्यात की विशेषज्ञता प्राप्त कर ली है, जिससे इनके अर्थतंत्र का सर्वांगीण विकास नहीं हो सका और न ये देश अपने खाने के लिए पर्याप्त अन्न पैदा कर सके। आश्चर्य होता है कि कृषि-प्रधान यहाँ के देशों को अन्न, दालों और आटे के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। इन निर्यात के मालों का एक तिहाई से तीन चौथाई हिस्सा विदेश भेज दिया जाता रहा जिससे एक ओर तो संतुलन बिगाड़ना रहा, दूसरी ओर नगदी फसलों की कीमत की अपेक्षा अन्य फसलों की कीमत की उपेक्षा की गयी और अंत में व्यापार का संतुलन कायम रखने के लिए औद्योगिक माल के लिए यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमरीका पर आश्रित रहना पड़ा। अतः अब तक ये देश आर्थिक रूप से कमजोर और अधीन रहे। बड़े भू-मालिकों और बाहरी व्यापारियों का समाज-व्यवस्था पर नियंत्रण होने की वजह से यहाँ के देशों को आय कर और विरासत कर जैसे वित्तीय साधनों से वंचित होकर सं.रा. अमरीका से कर्ज और मदद लेनी पड़ी जिससे उनके अर्थतंत्र पर विदेशी पूंजी हावी हो गयीं। विदेशी जिस देश को मजबूत करना चाहते थे उसके प्रधान निर्यात को रोक देते थे जिससे उस देश में भयंकर वित्तीय संकट छा जाता था और वह लाचार होकर उनके आर्थिक पंजों में जकड़ जाता था। फलस्वरूप कई देशों में बिजली, पानी, रेलवे, डाक-तार जैसी राष्ट्रीय आवश्यकताओं पर अंग्रेजी-अमरीकी पूंजी लगी है। इन देशों में ‘नाइट्रेट सम्राट’, ‘केला सम्राट’ और ‘रबर सम्राट’ जैसे बड़े-बड़े इजारेदार मिलते हैं। विदेशी पूंजी और राष्ट्रीय पूंजी की सुलह की वजह से कोई भी सार्थक भूमि-सुधार और उद्योग-सुधार लागू नहीं किए जा सके। भूमि स्वामी, व्यापारी और उद्योगपति तानाशाहों (कांडिलो) की मदद से ऐसे कानून पास कराते चले आ रहे हैं जो उनकी स्थिति को मजबूत करते रहें।

लूट-खसोट की यह राजनीति लातिन अमरीका

में बराबर बनी रही। इतिहास के पन्नों पर कोई ऐसा नायक पैदा नहीं हुआ जो इन स्थितियों को बदलकर कोई नयी व्यवस्था कायम कर सके। मेघ साहब हमें आगे बताते हैं कि “बीसवीं सदी में हालत तेजी से बदली। एक राजनीतिक स्वतंत्रता के ढांचे को आर्थिक स्वतंत्रता की वास्तविक प्राणवत्ता से संपूर्ण करने का संकल्प बलवान हुआ, दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतंत्रता के युद्धों के स्थान पर स्वतंत्रता के राष्ट्रीय युद्ध छेड़े गए, तीसरी ओर श्रमिक वर्ग, किसान तथा मध्यम वर्ग के विकास के साथ-साथ समाजवादी विचारों का उन्मेष हुआ तथा चौथी ओर फिदेल वास्कोवाद, यांकीवाद-विरोध, द गालवाद, पेरानवाद जैसी नव्य प्रवृत्तियाँ यहाँ के राष्ट्रों में परिलक्षित होने लगीं।”

सन् 1900 के लगभग अमरीकी गणतंत्रों ने विदेशी मंडियों के साथ-साथ घरेलू बाजारों पर ध्यान देना शुरू किया। औद्योगिकीकरण के लिए प्राविधिक कौशल और पूंजी की ज़रूरत थी। कच्चे माल की माँग बढ़ी। लातिन अमरीका में सर्वकुशल उत्पादक आकर बसे हुए विदेशी थे, अतः घरेलू खपत और निर्यात से लातिन अमरीका को उलझना पड़ा। सन् 1885 में यहाँ का जो विदेशी वाणिज्य एक अरब था, 1951 ईसवी में 14 अरब 60 करोड़ हो गया। विदेशी मंडी पर निर्भर रहने के कारण विदेश की जरा सी तब्दीली से यहाँ के देशों में आर्थिक तबाही आ सकती थी। विदेशी पूंजी भी देश के संतुलन पर अधिकार रखती थी। वेनेजुएला में पेट्रोलियम, क्यूबा की चीनी, कोलम्बिया के तेल, ग्वेटमाला के फल आदि की ओर विदेशी पूंजी सबसे अधिक झुकी थी। विदेशी पूंजी पर दबाव पड़ने पर तत्संबंधी देश लातिन अमरीकी गणतंत्र पर दबाव डालकर उसे झुका देते थे। अतः विदेशी पूंजीपति समांतर सरकारें भी चलाते थे। कुछ देश सं.रा. अमरीका के संरक्षित उपनिवेश के दर्जे पर पहुंच गए थे। इसी कारण राष्ट्रपति ट्रूमैन को 1949 में घोषणा करनी पड़ी कि वे “पुराने साम्राज्यवाद को पुनरुज्जीवित नहीं होने देंगे, उन्होंने ‘फ्लाइंट-4’ कार्यक्रम घोषित किया। (कथांतर, लातिन अमरीका

॥ अनुचिंतन ॥

विशेषांक अगस्त 16, पृ. 62-63)

फिर भी 'आर्थिक साम्राज्यवाद' का खात्मा करने के लिए 'आर्थिक राष्ट्रीयतावाद' का प्रबल आंदोलन उठ रहा है, जिसके अंतर्गत विदेशी पूंजी नियंत्रण, स्थानीय लोगों द्वारा बचत और खर्च, सतर्क आर्थिक योजना, व्यक्ति पूंजी का नियमन आदि शामिल है। अर्जेंटीना, चिली, पेरू, मैक्सिको, कोलंबिया, वेनेजुएला, क्यूबा आदि भारी उद्योगों की ओर प्रयत्नशील हैं। 1955 के बाद काडिलो तानाशाही संस्था ढीले पड़ने लगे हैं, क्योंकि मजदूर और मध्यम वर्ग, किसान रेडिकल हेरावल संगठन की ओर बढ़ रहे हैं। यहाँ इस समय राष्ट्रीय अर्थतंत्र की अनिवार्यता की वजह से नये आंदोलन की दो दिशाएं उभर रही हैं। (1) फौजी सत्ता और विदेशी पूंजी के खिलाफ लड़ाई और (2) सामाजिक-आर्थिक ढांचे के परिवर्तन के लिए 'राष्ट्रीय युद्ध' यहाँ तेज गति से परिलक्षित होता है, अनेक क्रांतियाँ-प्रतिक्रांतियाँ यहाँ हुई हैं, अनेक राष्ट्रीयताओं की हत्या की गई हैं।

बदली हुई परिस्थितियों में तानाशाही काडिलाओ को किसानों तथा ट्रेड यूनियनों की ओर मुड़ना पड़ा, पर बहुधा विदेशी शक्ति और पूंजी ने उन्हें पथभ्रष्ट किया। विदेशी दौलत से काडिलो अफसर और उनके परिवार मालामाल हो गये। इस प्रकार प्रशासन भ्रष्ट हो चुकी है। ऐसी दशा में सरकार न भारी कर लगा सकती है न एकाधिकार व्यापार तथा कृषि की शक्ति को कम करने के काबिल ही है। इसीलिए पूंजी व्यय के लिए अतिरिक्त राशि बहुत कम है और ये देश कर्जदार है। राष्ट्रपति निष्पक्ष मतदान से नहीं, धोखे से जीतते हैं। सारे लातिन अमरीका में सं.रा. अमरीका ही सबसे बड़ा पूंजी लगाने वाला है तथा उनके कच्चे माल का स्वामी देश है। इसलिए नई राजनीतिक

शक्तियाँ उभर तो आयी हैं, किंतु स्थायित्व नहीं पा सकी हैं, अव्यवस्था के बीच से आज की ये गणतंत्र गुजर रहे हैं। बीसवीं सदी के तीसरे दशक से बड़े व्यापारियों तथा भूस्वामियों के स्वार्थों में टकराहट होने लगी थी, इसी बीच विदेशी पूंजी ने आर्थिक विकास और आर्थिक पराधीनता का साथ-साथ समावेश किया, फिर भी सामाजिक उत्थान को दबाने के लिए स्थानीय गुटों का साथ दिया जो परिवर्तन और विकास के विरोधी थे। पर संघर्ष के साथ राजनीतिक स्वतंत्रता, स्वतंत्र चुनाव, आम शिक्षा, न्याय और समता आदि की ही नहीं, बल्कि भूमि का बंटवारा, न्यूनतम मजदूरी का निश्चय, सामाजिक बीमा जैसी मांगें प्रबल हो चुकी थी। यह भी अनुभव किया जाने लगा कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र पर विदेशियों का कब्जा ढीला किया जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रमेश कुंतल मेघ एक बड़े विद्वान के साथ-साथ रिसर्च स्कॉलर भी थे। एक बोझिल गद्यकार की जो उनकी छवि बना दी गई है, उनके साथ नाइंसाफी है। दूसरे, वे केवल मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री ही नहीं थे। कोई भी पाठक उनका रिसर्चनुमा आलेख 'आज का लातिन अमरीका' पढ़ेगा और अभिभूत हो उठेगा। मैं स्वयं उनके इस आलेख के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। आलेख में जगह-जगह मैंने उनके उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इसके लिए मैं अपने पाठकों से मुआफी भी चाहता हूँ। मगर यह इसलिए भी ज़रूरी था कि उनका मार्क्सवादी चिंतक वाला स्वरूप उभरकर सामने आ सके। इस छोटे से आलेख में उनके विराट व्यक्तित्व को तो मैं शब्दबद्ध नहीं कर सका लेकिन उनका वैचारिक और उत्पीड़ित मानवता के प्रति मानवीय संवेदना को उकेरने की अवश्य कोशिश की है।

9632639707
बंगाली कॉलोनी, पो. : बेगमपुर
पटना सीटी - 800009

समीक्षार्थ पुस्तकें प्राप्त हुई			
क्र०	पुस्तक का नाम	लेखक/लेखिका	प्रकाशक
1.	सूरजमुखी के खेतों तक	एकान्त श्रीवास्तव	वाणी प्रकाशन 4695, 21ए, दरियागंज नयी दिल्ली - 110002
2.	जितनी यह गाथा	एकान्त श्रीवास्तव	राजपाल एण्ड सन्स 1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट दिल्ली - 110006
3.	मेरे साक्षात्कार	एकान्त श्रीवास्तव	प्रकाशन संस्थान 4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - 110002
4.	प्रतिरोध की कहानियाँ	राणा प्रताप	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी नयी दिल्ली - 110012
5.	मंतव्य	संजय चौबे	रश्मि प्रकाशन प्र.लि. महाराजापुरम, केसरीखेरा रेलवे क्रॉसिंग के पास, कृष्ण नगर, लखनऊ - 110011
6.	उद्भ्रांत की साहित्य-साधना एक विचार विमर्श	डॉ. ऋतु नंनन पांडे	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी नयी दिल्ली - 110012
7.	आई.सी.यु. में ताओ	रति सक्सेना	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्धनगर, इंद्रपुरी नयी दिल्ली - 110012
8.	समय होत बलवान (डायरी)	वीरेन्द्र परमार	श्री साहित्य प्रकाशन D-515, अशोक नगर गली नं. 4 शाहदरा, दिल्ली - 110093
9.	वह दिन आएगा जरूर	इला प्रसाद	विकल्प प्रकाशन 2226/बी, प्रथम तल, गली नं. 33 पहला पुस्ता, सोनिया विहार, दिल्ली - 110090
10.	ठलुआ चिन्तन (कुछ रम्य, कुछ हास्य कुछ व्यंग्य)	राम नगीना मौर्य	रश्मि प्रकाशन महाराजापुरम, केसरीखेड़ा रेलवे क्रॉसिंग के पास, कृष्णना नगर, लखनऊ - 110011
11.	रवीन्द्र की प्रेयसी	घुंघरू परमार	आईसेक्ट पब्लिकेशन ई-7/22, एस. बी. आई. अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462016
12.	कुछ तो लोग कहेंगे	प्रकाश कुमार अग्रवाल	अधिकरण प्रकाशन मं. संख्या-133, गली नं. 14, प्रथम तल बी-ब्लॉक, खजूरी खास, दिल्ली- 110094
13.	क्रमर मेवाड़ी की कविताएँ	क्रमर मेवाड़ी	श्री साहित्य प्रकाशन डी.-580, अशोक नगर, गली नं. 4, निकट - वजीराबाद रोड, शाहदरा, दिल्ली - 110093

लेख आमंत्रित

विविध विषयों पर केंद्रित ‘मुक्तांचल’ के अंकों की पाठकों में बहुत चर्चा हुई है। आलोचकों एवं विशिष्ट लेखकों ने भी उनकी सराहना की है। लोक साहित्य ने लोक-कंठ से निकलकर अब व्यापक अध्ययन एवं विमर्श का रूप ले लिया है।

अस्तु, ‘मुक्तांचल’ का दिसम्बर 2024 अंक लोक साहित्य पर केंद्रित करने का हमने निश्चय किया है। उक्त अंक का मुख्य विषय होगा- ‘लोक साहित्य का सामाजिक संदर्भ’ और उप-विषय होंगे-

1. लोक साहित्य में लोक-जीवन एवं संस्कृति
2. लोक साहित्य में लोक-शिक्षा
3. लोक साहित्य में निम्नवर्ग
4. लोक साहित्य में प्रतिरोध के स्वर
5. लोक साहित्य में लोक-संवाद
6. अन्य (किसी प्रदेश का लोक साहित्य, लोककथा, लोकगीत, लोक नाट्य, लोकोक्ति इत्यादि।)



उक्त अंक के अतिथि सम्पादक होंगे डॉ. पंकज साहा। कृपया विषय से संबंधित लेख अक्टूबर 2024 तक ‘मुक्तांचल’ कार्यालय के पते पर हार्ड कॉपी में अथवा निम्नलिखित ई-मेल पते पर सॉफ्ट कॉपी में भेजें-

sinhameera48@gmail.com

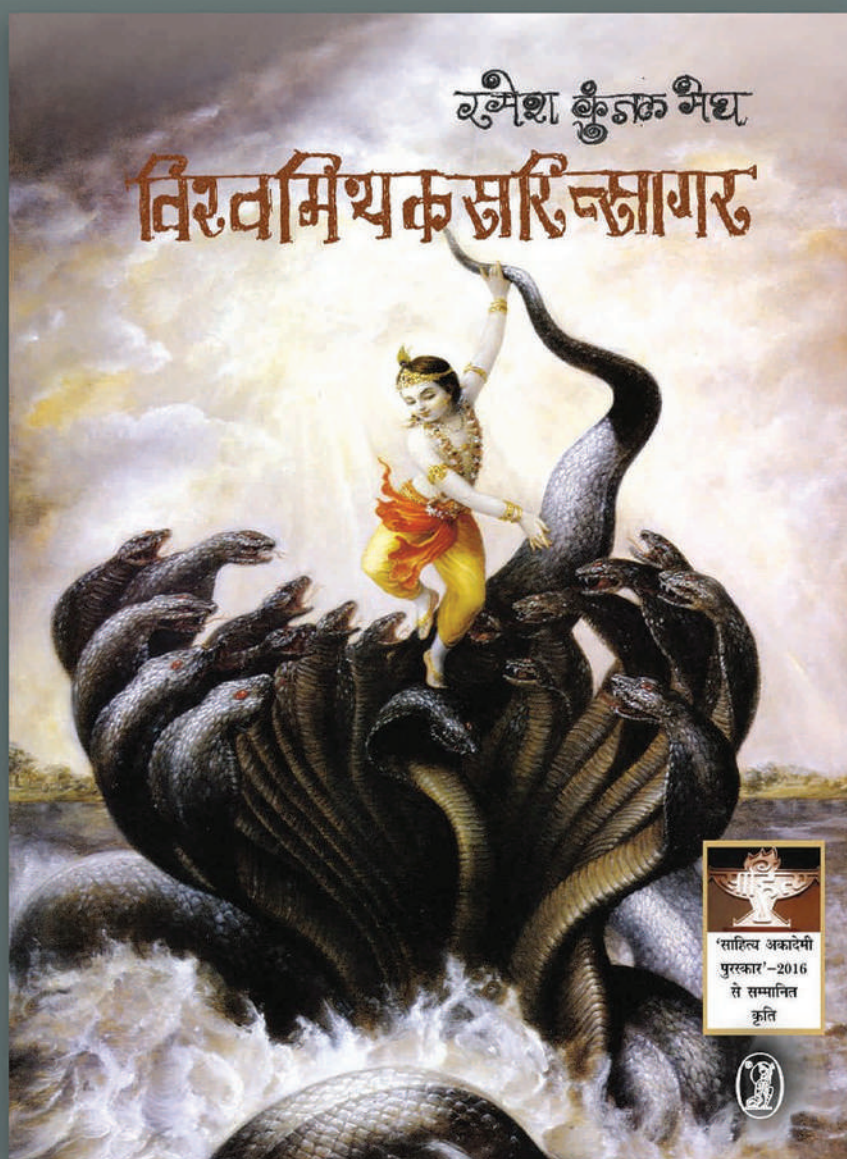
dr.pankajsaha@gmail.com



+ 918918818513

+ 919434894190

इस पार तक.....



-2015

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

रमेश कुंतल मेघ

(1 जून 1931-1 सितम्बर 2023)

अजीज हमदाज! सबसे अंत में सौंदर्य-शेखा तथा प्रकृति के हाथों अतिरिक्त
अनुसंधान की श्रमा करते हैं जो अविनाश बहिनाब चिंतन की
अभिप्राय है। तथापि प्रकृति से हम सम्पर्क करते हैं। तुलसी जी की
प्रकृति के दो परल हैं - सागर व जलकौतर; फिर आश्रम में जो किछा
पद लेते हैं वे महाना का उपदेशात्मक कहते हैं अभिगृहण है। वृत्त में
चंद्रोदय देखकर राम गए प्रकृति - सौंदर्य की महज लक्ष्यरेखा बताते हैं।
अतः शान की प्रतीति सामान्य (इच्छा) एक है जिसमें विविधताएं हैं॥
✓ हमारा शुद्ध बकलम रमेश कुंतल मेघ॥ फ़रीद कलरी, 2017 ॥

—*

— रमेश कुंतल मेघ

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा